वार्षिक रु. २००, मूल्य रु. २०

ISSN 2582-0656

विवेक ज्योति

रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम रायपुर (छ.ग.)

वर्ष ६२ अंक ९ सितम्बर २०२४

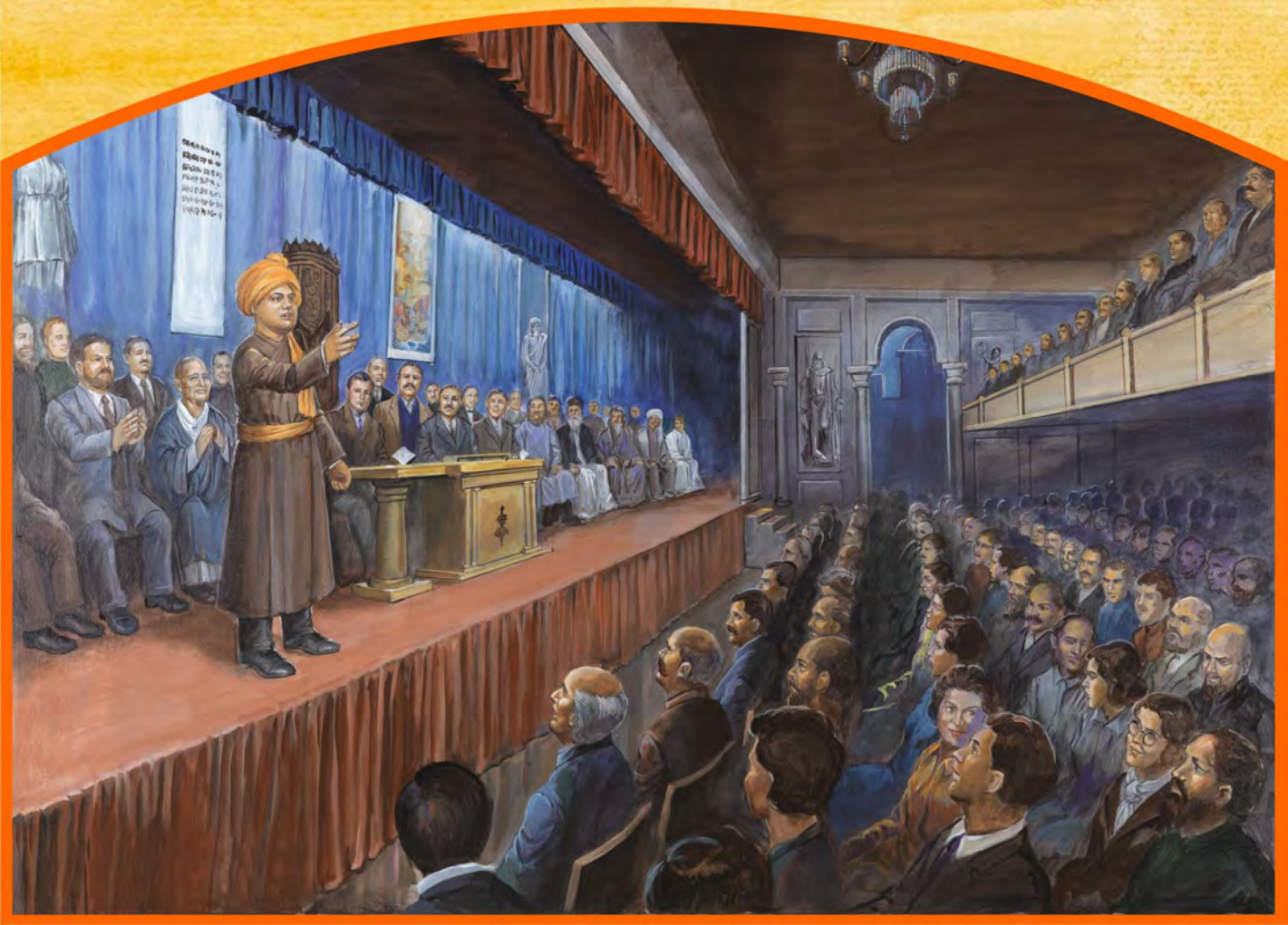

* आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च *

वर्ष ६२

अंक ९

विवेक-ज्योति

हिन्दी मासिक

प्रबन्ध सम्पादक
स्वामी अव्ययात्मानन्द

व्यवस्थापक
स्वामी स्थिरानन्द

सम्पादक
स्वामी प्रपत्त्यानन्द

सह-सम्पादक
स्वामी पद्माक्षानन्द

भाद्र, सम्वत् २०८१

सितम्बर, २०२४

अनुक्रमणिका

* शिक्षा तो तुम स्वयं ही अपने को दोगे : विवेकानन्द ३९०
* गाजीपुर की अध्यात्म-त्रिवेणी में श्रीरामकृष्ण, स्वामी विवेकानन्द और पवहारी बाबा (स्वामी अलोकानन्द) ३९३
* (बच्चों का आंगन) अनमोल शिक्षक सुजीत (श्रीमती मिताली सिंह) ३९८
* भारतीय वास्तुकला में मन्दिरों का महत्त्व (डॉ. अर्पिता चटर्जी) ४०३
* (युवा प्रांगण) नशे के सेवन से बचें – युवाओं के लिए एक मार्गदर्शिका (स्वामी गुणदानन्द) ४०७
* गुरुकुल परम्परा का पुनर्जागरण (डॉ. राधिका चन्द्राकार) ४०९
* भगवान की योजना से विवेकानन्द शिकागो में गये (स्वामी सत्यरूपानन्द) ४११
* शिक्षा के दो पहलू – प्रतिभा-पोषण और चरित्र-निर्माण (स्वामी आत्मश्रद्धानन्द) ४१४
* तेन त्यक्तेन भुंजीथा: (अरुण चुड़ीवाल) ४२०
* श्रीराम और श्रीरामकृष्ण (स्वामी निखिलात्मानन्द) ४२१
* (कविता) जयतु विवेकानन्द विश्वगुरु (डॉ. ओमप्रकाश वर्मा), कान्हा अब तो दरशन दे दो (ओ.पी. चौबे) ४१३
* (कविता) जय जय विवेकानन्द (आनन्द तिवारी 'पौराणिक') ४२०

शृंखलाएँ

मंगलाचरण (स्तोत्र) ३८९
पुरखों की थाती ३८९
सम्पादकीय ३९१
प्रश्नोपनिषद् ३९९
रामगीता ४००
श्रीरामकृष्ण-गीता ४१३
गीतातत्त्व-चिन्तन ४२४
साधुओं के पावन प्रसंग ४२७
समाचार और सूचनाएँ ४२९

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर – ४९२००१ (छ.ग.)

विवेक-ज्योति दूरभाष : ***०९८२७१ ९७५३५*** (फोन करने का समय केवल सुबह १० से १२)
ई-मेल : **vivekjyotirkmraipur@gmail.com,** वेबसाइट : ***www.rkmraipur.org***
आश्रम कार्यालय : ०७७१ – २२२५२६९, ४०३६९५९ (समय : ८.३० से ११.३० और ३ से ६ बजे तक)
रविवार एवं अन्य अवकाश को छोड़कर

ISSN 2582-0656

विवेक-ज्योति के सदस्य कैसे बनें

भारत में	वार्षिक	५ वर्षों के लिए	१० वर्षों के लिए
एक प्रति २०/-	२००/-	१०००/-	२०००/-
विदेशों में (हवाई डाक से)	६० यू.एस. डॉलर	३०० यू.एस. डॉलर	
संस्थाओं के लिए	२५०/-	१२५०/-	
भारत में रजिस्टर्ड पोस्ट से माँगने का शुल्क प्रति अंक अतिरिक्त ३०/- देय होगा।			

* सदस्यता-शुल्क की राशि इलेक्ट्रॉनिक या साधारण मनिआर्डर से भेजें अथवा **ऐट पार** चेक – **'रामकृष्ण मिशन'** (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम बनवाकर रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम रायपुर (छ.ग.) ४९२००१ के नाम स्पीड पोस्ट से भेज दें अथवा निम्नलिखित खाते में सीधे जमा करायें :

बैंक का नाम : सेन्ट्रल बैंक ऑफ इंडिया
अकाउण्ट का नाम : रामकृष्ण मिशन, रायपुर
शाखा का नाम : विवेकानन्द आश्रम,रायपुर,छ.ग.
अकाउण्ट नम्बर : 1385116124
IFSC : CBIN0280804

आवरण-पृष्ठ के सम्बन्ध में

आवरण पृष्ठ पर स्वामी विवेकानन्द को शिकागो विश्वधर्म-सम्मेलन में व्याख्यान देते हुए दर्शाया गया है।

सितम्बर माह के जयन्ती और त्यौहार

०१	स्वामी अद्वैतानन्द
०५	शिक्षक दिवस
२६	स्वामी अभेदानन्द
१४,२८	एकादशी

लेखकों से निवेदन

सम्माननीय लेखको ! गौरवमयी भारतीय संस्कृति के संरक्षण और मानवता के सर्वांगीण विकास में राष्ट्र के सुचिन्तकों, मनीषियों और सुलेखकों का सदा अवर्णनीय योगदान रहा है। विश्वबन्धुत्व की संस्कृति की द्योतक भारतीय सभ्यता ऋषि-मुनियों के जीवन और लेखकों की महान लेखनी से संजीवित रही है। आपसे नम्र निवेदन है कि 'विवेक ज्योति' में अपने अमूल्य लेखों को भेजकर मानव-समाज को सर्वप्रकार से समुन्नत बनाने में सहयोग करें। विवेक ज्योति हेतु रचना भेजते समय निम्नलिखित बातों का ध्यान रखें –

१. धर्म, दर्शन, शिक्षा, संस्कृति तथा मानव के नैतिक, सामाजिक एवं आध्यात्मिक विकास से सम्बन्धित रचनाओं को 'विवेक-ज्योति' में स्थान दिया जाता है।, **२.** रचना बहुत लम्बी न हो। पत्रिका के दो या अधिकतम चार पृष्ठों में आ जाय। पाण्डुलिपि फूलस्केप रूल्ड कागज पर दोनों ओर यथेष्ट हाशिया छोड़कर स्पष्ट सुन्दर हस्तलेख में लिखी या टाइप की हुयी हो। आप अपनी रचना ई-मेल – vivekjyotirkmraipur@gmail.com से भी भेज सकते हैं।, **३.** लेख में आये उद्धरणों के सन्दर्भ का पूरा विवरण दें।, **४.** आपकी रचना डाक में खो भी सकती है, अत: उसकी एक प्रतिलिपि अपने पास अवश्य रखें। अस्वीकृति की अवस्था में वापसी के लिये अपना पता लिखा हुआ एक लिफाफा भी भेजें।, **५.** पत्रिका हेतु कवितायें छोटी, सारगर्भित और भावपूर्ण लिखें।, **६.** 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशित लेखों में व्यक्त विचारों का पूरा उत्तरदायित्व लेखक का होगा और स्वीकृत रचना में सम्पादक को यथोचित संशोधन करने का पूरा अधिकार होगा। न्यायालय-क्षेत्र रायपुर (छ.ग.) होगा।, **७.** 'विवेक-ज्योति' में मौलिक और अप्रकाशित रचनाओं को ही प्राथमिकता दी जाती है, इसलिये अनुवाद न भेजें। यदि कोई विशिष्ट रचना इसके पहले किसी दूसरी पत्रिका में प्रकाशित हो चुकी हो, तो उसका उल्लेख अवश्य करें।

विवेक-ज्योति कोष/स्थायी कोष

दान दाता	दान-राशि
श्री अनुराग प्रसाद, कौशाम्बी, गाजियाबाद (उ.प्र.)	११,००१/-
श्री देवीशरण गुप्त, जोधपुर (राजस्थान)	२,०००/-
श्री अरुणकुमार सिंह, शहपुरा,जबलपुर (म.प्र.)	२,०००/-

'vivek jyoti hindi monthly magazine' के नाम से अब विवेक-ज्योति पत्रिका यू-ट्यूब चैनल पर सुनें

विवेक-ज्योति के अंक ऑनलाइन नि:शुल्क पढ़ें : www.rkmraipur.org

विवेक ज्योति पुस्तकालय योजना

मनुष्य का उत्थान केवल सकारात्मक विचारों के प्रसार से करना होगा । – स्वामी विवेकानन्द

❖ क्या आप स्वामी विवेकानन्द के स्वप्नों के भारत के नव-निर्माण में योगदान करना चाहते हैं?

❖ क्या आप अनुभव करते हैं कि भारत की कालजयी आध्यात्मिक विरासत, नैतिक आदर्श और महान संस्कृति की युवकों को आवश्यकता है?

✓ यदि हाँ, तो आइए! हमारे भारत के नवनिहाल, भारत के गौरव छात्र-छात्राओं के चारित्रिक-निर्माण और प्रबुद्ध नागरिक बनने में सहायक 'विवेक-ज्योति' को प्रत्येक पुस्तकालय में पहुँचाने में सहयोग कीजिए। आप प्रत्येक पुस्तकालय में पहुँचाने वाली हमारी इस योजना में सहयोग कर अपने राष्ट्र की सेवा कर सकते हैं। आपका प्रयास हमारे इस महान योजना में सहायक होगा, हम आपके सहयोग की प्रतीक्षा कर रहे हैं –

✍ १. 'विवेक-ज्योति' को विशेषकर भारत के स्कूल, कॉलेज, महाविद्यालय और विश्वविद्यालयों द्वारा युवकों में प्रचारित करने का लक्ष्य है।

✍ २. एक पुस्तकालय हेतु मात्र २१००/- रुपये सहयोग करें, इस योजना में सहयोग-कर्ता के द्वारा सूचित किए गए सामुदायिक ग्रन्थालय, या अन्य पुस्तकालय में १० वर्षों तक 'विवेक-ज्योति' प्रेषित की जायेगी।

✍ ३. यदि सहयोग-कर्ता पुस्तकालय का नाम चयन नहीं कर सकते हैं, तो हम उनकी ओर से पुस्तकालय का चयन कर देंगे। दाता का नाम पुस्तकालय के साथ 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशित किया जाएगा। यह योजना केवल भारतीय पुस्तकालयों के लिये है।

❖ आप अपनी सहयोग-राशि इलेक्ट्रॉनिक मनीआर्डर या एट पार चेक 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम से बनवाकर पत्र के साथ निम्नलिखित पते पर भेज दें, जिसमें 'विवेक ज्योति पुस्तकालय योजना' हेतु लिखा हो। आप अपनी सहयोग-राशि निम्नलिखित खाते में सीधे जमा कर सकते हैं। आप इसकी सूचना ई-मेल, फोन और एस. एम.एस. द्वारा अपना नाम, पूरा पता, पिन कोड एवं फोन नम्बर के साथ भेजें।

सेन्ट्रल बैंक ऑफ इन्डिया, अकाउन्ट नम्बर : 1385116124, **IFSC CODE :** CBIN0280804

पता **– व्यवस्थापक, विवेक-ज्योति कार्यालय, रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम,**

रायपुर - 492001 (छत्तीसगढ़), दूरभाष – 09827197535, 0771-2225269, 4036959

ई-मेल : vivekjyotirkmraipur@gmail.com, वेबसाइट : www.rkmraipur.org

विवेक-ज्योति स्थायी कोष

'विवेक-ज्योति' पत्रिका स्वामी विवेकानन्द जी की जन्म-शताब्दी वर्ष के शुभ अवसर पर १९६३ ई. में आरम्भ की गई थी। तबसे यह पत्रिका निरन्तर आध्यात्मिक, सांस्कृतिक और नैतिक विचारों के प्रचार-प्रसार द्वारा समाज को सदाचार, नैतिक और आध्यात्मिक जीवन यापन में सहायता करती चली आ रही है। यह पत्रिका सदा नियमित और सस्ती प्रकाशित होती रहे, इसके लिये विवेक-ज्योति के स्थायी कोष में उदारतापूर्वक दान देकर सहयोग करें। आप अपनी दान-राशि इलेक्ट्रॉनिक मनीआर्डर, ऐट पार चेक या सीधे बैंक के खाते में उपरोक्त निर्देशानुसार भेज सकते हैं। प्राप्त दान-राशि (न्यूनतम रु. २०००/-) सधन्यवाद सूचित की जाएगी और दानदाता का नाम भी पत्रिका में प्रकाशित होगा। रामकृष्ण मिशन को प्रदत्त सभी दान आयकर अधिनियम-१९६१, धारा-८०जी के अन्तर्गत आयकर मुक्त है।

सुदर्शन सोलार...
ऊर्जा अपरंपार !

आधुनिक भारत की बिजली की बढ़ती हुई आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए हमारे पास पर्याप्त मात्रा में सौर ऊर्जा उपलब्ध है। प्राकृतिक रुप से उपलब्ध इस स्त्रोत का प्रतिदिन की अपनी आवश्यकताओं के लिये उपयोग करके, अपने बिजली के बिल में भारी पैमाने पर कटौती कर, हम अपने देश को बिजली के निर्माण में आत्मनिर्भर बनाने में सहायता कर सकते हैं।

इस सुन्दर भूमि को सदा हरी-भरी रखने के लिये अपना साथी

भारत का विश्वसनीय सौर ऊर्जा ब्रांड - 'सुदर्शन सौर'!

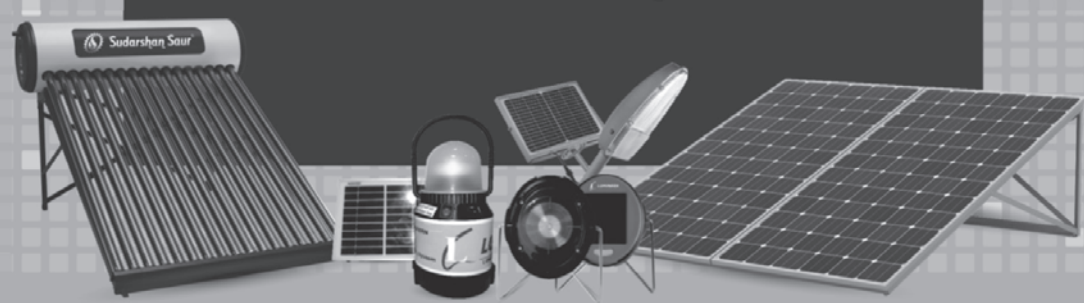

सोलर वॉटर हीटर
24 घंटे गरम पानी के लिए

सोलर लाइटिंग्स
ग्रामीण क्षेत्र में घरेलू उपयोग के लिए

सोलार इलेक्ट्रिसिटी सिस्टम
रुफटॉप सोलार
बिजली उत्पन्न करने के लिए

घर, बंगलोज, हॉस्पिटल्स, हॉटेल्स, इंडस्ट्रीज, कमर्शिअल कॉम्प्लेक्स, इन्स्टिट्यूट्स के लिए उपयुक्त

समझदारी की सोच!

३० साल का प्रदीर्घ अनुभव!

आजीवन सेवा — लाखां संतुष्ट ग्राहक — विस्तृत डीलर नेटवर्क

Sudarshan Saur®

www.sudarshansaur.com | Toll Free 1800 233 4545 | E-mail: office@sudarshansaur.com

।। आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ।।

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

वर्ष ६२ सितम्बर २०२४ अंक ९

विवेकानन्द-स्तोत्रम्

ज्ञाननेत्रस्फुरत्कारो नाट्यगानसुपारगः।
व्याख्यानपटुः पूर्णज्ञः संन्यासीश्रेष्ठश्चिद्घनः।।
त्वमेव हि नमस्तुभ्यं विवेकानन्द ते नमः।
तारुण्योज्ज्वलरम्यांगो वेदसिद्धान्तदर्शनः।।
विश्वव्यापकहृत्प्रेमा विशालज्ञानलोचनः।
त्वत्तो न हि परः कोऽपि विवेकानन्द ते नमः।।

– ज्ञान-नेत्रस्फुरित, नाट्य-संगीत में निपुण, व्याख्यान-पटु, पूर्ण ज्ञानसम्पन्न और श्रेष्ठ चिद्घन संन्यासी और सबके प्रणम्य हे विवेकानन्द, तुम्हें नमस्कार है।

जिनका तन तरुणाई की दीप्ति से उद्भासित है, जो वेद के सिद्धान्तों के ज्ञाता हैं, समग्र विश्ववासियों हेतु अनन्त करुणावान हैं, जिनके विशाल ज्ञान-नेत्र हैं, उनसे श्रेष्ठ अन्य कोई नहीं है, ऐसे हे विवेकानन्द, तुम्हें नमस्कार है।

पुरखों की थाती

यस्य स्नेहो भयं तस्य
स्नेहो दुःखस्य भाजनम्।
स्नेहमूलानि दुःखानि
तानि त्यक्त्वा वसेत्सुखम्।।८४२।।

– जिस व्यक्ति को किसी के प्रति स्नेह होता है, उसको उसी कारण भय भी होता है, अतः स्नेह ही दुखों का घर है। चूँकि स्नेह ही सारे दुखों की जड़ है, अतः स्नेह-जनित दुखों को त्यागकर सुखपूर्वक रहना चाहिए।

यः स्वभावो हि यस्यास्ति
स नित्यं दुरतिक्रमः।
श्वा यदि क्रियते राजा
तत् किं नाश्नात्युपानहम्।।८४३।।

– जिसका जैसा स्वभाव होता है, उसके लिये उसे बदलना बड़ा कठिन होता है। जैसे कि यदि किसी कुत्ते को राजा बनाया जाये, तो भी क्या वह जूते चबाना छोड़ देगा?

रविरपि न दहति तादृग्
यादृक् संदहति वालुकानिकरः।
अन्यस्माल्लब्धपदो
नीचः प्रायेण दुःसहो भवति।।८४४।।

– दूसरे की कृपा से अधिकार को पाने वाला निकृष्ट व्यक्ति प्रायः दूसरों को असह्य कष्ट देता है। जैसे सूर्य भी उतना नहीं जलाता, जितना कि उसके धूप में तपे हुए बालू के कण जलाते हैं।

शिक्षा तो तुम स्वयं ही अपने को दोगे : विवेकानन्द

शिक्षा का अर्थ है, उस पूर्णता की अभिव्यक्ति, जो सब मनुष्यों में पहले से ही विद्यमान है। (२/३२८)

शिक्षा किसे कहते हैं? क्या वह पठन-मात्र है? नहीं। क्या वह नाना प्रकार का ज्ञानार्जन है? नहीं, यह भी नहीं। जिस संयम के द्वारा इच्छा-शक्ति का प्रवाह और विकास वश में लाया जाता है और वह फलदायक होता है, वह शिक्षा कहलाती है। अब सोचो कि शिक्षा क्या वह है, जिसने निरन्तर इच्छा-शक्ति को बलपूर्वक पीढ़ी-दर-पीढ़ी रोककर प्रायः नष्ट कर दिया है, जिसके प्रभाव से नये विचारों की तो बात ही जाने दो, पुराने विचार भी एक-एक करके लोप होते चले जा रहे हैं; क्या वह शिक्षा है, जो मनुष्य को धीरे-धीरे यन्त्र बना रही है? (७/३५९)

वास्तविक शिक्षा की तो अभी हम लोगों ने कल्पना भी नहीं की है। हम इसे मानसिक शक्तियों का विकास, केवल शब्दों का रटना मात्र नहीं अथवा व्यक्तियों को ठीक तरह से और दक्षतापूर्वक इच्छा करने का प्रशिक्षण देना कह सकते हैं। (४/२६८)

बालक अपने को स्वयं ही शिक्षा देता है। तुम मेरी बातें सुनने आये हो। घर जाकर तुमने जो यहाँ सीखा है तथा यहाँ आने के पूर्व तुम्हारे मन में जो था, उन दोनों का मिलान करो। तब तुमको पता लगेगा कि यही बात तो तुमने भी सोची थी, मैंने तो केवल उस बात को प्रकट मात्र किया है। मैं तुमको किसी बात की शिक्षा नहीं दे सकता। शिक्षा तो तुम स्वयं ही अपने को दोगे। मैं तो शायद तुमको अपने उस विचार के प्रकट करने में सहायता ही दे सकूँ। (९/५५)

कोई भी किसी को कुछ नहीं सिखा सकता। जो शिक्षक यह समझता है कि वह कुछ सिखा रहा है, सारा गुड़-गोबर कर देता है। वेदान्त का सिद्धान्त है कि मनुष्य के अन्तर में ज्ञान का समस्त भण्डार निहित है, एक अबोध शिशु में भी, केवल उसको जाग्रत कर देने की आवश्यकता है और यही आचार्य का काम है। हमें बच्चों के लिए बस इतना ही करना है कि वे अपने

हाथ-पैर, आँख-कान का समुचित उपयोग करना भर सीख लें और फिर सब आसान है। (८/२२९)

क्या तुमने उपनिषदों की कथाएँ नहीं पढ़ी हैं? मैं अभी एक कथा सुनाता हूँ। ब्रह्मचारी सत्यकाम गुरु के पास अध्ययन के लिए गया। गुरु ने उसे गायें चराने जंगल में भेज दिया। गायें चराते-चराते कई वर्ष व्यतीत हो गये। गायों की संख्या भी दुगुनी हो गयी। तब सत्यकाम ने आश्रम लौट चलने का विचार किया। मार्ग में एक वृषभ, अग्नि तथा कुछ अन्य प्राणियों ने सत्यकाम को ब्रह्मज्ञान का उपदेश दिया। जब शिष्य आश्रम में गुरु को प्रणाम करने पहुँचा, तो गुरु ने उसे देखते ही जान लिया कि उसने ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर लिया है। इस कथा का सार यही है कि सच्ची शिक्षा सर्वदा प्रकृति के सम्पर्क में रहने से ही प्राप्त होती है। (८/२३१)

सम्पादकीय

शिक्षा : स्वामी विवेकानन्द के परिप्रेक्ष्य में

शिक्षा को परिभाषित करते हुये स्वामी विवेकानन्द कहते हैं – ''शिक्षा का अर्थ है, उस पूर्णता की अभिव्यक्ति, जो मनुष्यों में पहले से ही विद्यमान है।''[१] शिक्षा मानव-जीवन का अभिन्न अंग है। जिस प्रकार हम भोजन के बिना नहीं रह सकते। अर्थात् भोजन के बिना हमें वे पौष्टिक तत्त्व नहीं मिलते, जो जीवित रहने के लिये आवश्यक है। भोजन नहीं मिलने पर पेट में पीड़ा, शरीर में दुर्बलता होती है, बहुत कष्ट होता है, मन-मस्तिष्क में सजगता और उत्साह, उच्छ्वास का अभाव रहता है, उसी प्रकार शिक्षा के बिना पग-पग पर व्यक्ति दुख का अनुभव करता है। इसलिये स्वामी विवेकानन्द शिक्षा के सम्बन्ध में कहते हैं – ''उच्च शिक्षा का उद्देश्य है, जीवन की समस्याओं को सुलझाना।''[२]

केवल साक्षर होने से ही व्यावहारिक बहुत सी समस्याओं का समाधान हो जाता है। जैसे आज से ४० साल पहले महिलायें बहुत कम शिक्षित होती थीं। यदि उन्हें परदेश में नौकरी कर रहे अपने पुत्र या पति के पास पत्र भेजना होता, तो दूसरे से पत्र लिखवातीं और इसके लिये उन्हें एक-एक सप्ताह प्रतीक्षा करनी पड़ती, क्योंकि पत्र लिखनेवाले छात्र के पास रविवार को ही समय मिलता था। ऐसे ही पत्र आने पर पढ़वाने के लिये दूसरों के पास जाकर पढ़वाना पड़ता था।

मान लीजिये, आप बाजार में कुछ सामान खरीदने जा रहे हैं, आपको दूकान का नाम पता है, तो आप पढ़कर दुकाने में चले जायेंगे। किसी से पूछना नहीं पड़ेगा। रास्ते में जा रहे हैं, तो चौराहे पर लिखे मार्ग के नाम को पढ़कर आप सरलता से अपने गन्तव्य स्थल पर चले जायेंगे। ट्रेन और बस पर लिखे गन्तव्य स्थलों के नाम स्वयं पढ़कर जान सकते हैं। घर में कौन सी दवा कब खाना है, आप स्वयं पढ़कर समझ लेंगे। किन्तु एक निरक्षर व्यक्ति को इन सबके लिये दूसरे पर निर्भर रहना पड़ता है। कभी-कभी बहुत दुख का सामना करना पड़ता है। दैनिक जीवन में ऐसी बहुत सी समस्याएँ हैं, जिसे केवल साक्षर बनकर सुलाझाया जा सकता है। राष्ट्रीय सांख्यिकी कार्यालय के २०२१ के आँकड़ानुसार हमारे देश में साक्षरता प्रतिशत ७७ प्रतिशत है, जिसमें पुरुष ८४ प्रतिशत और महिलायें ७० प्रतिशत हैं। यह साक्षारता १९४७ में १६-१८% थी।

लेकिन शिक्षा का उद्देश्य साक्षरता तक सीमित होना नहीं है। अपितु उच्च शिक्षा प्राप्त कर आर्थिक स्थिति को ठीक करना, नैतिक रूप से भौतिक उन्नति कर जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति करना, आत्मनिर्भर बनाना और जन-सेवा के योग्य बनाना है।

शिक्षा कैसी हो? शिक्षा भौतिक और आध्यात्मिक दोनों की होनी चाहिये, जिससे जीवन में आनेवाली दोनों समस्याओं का समाधान हो सके। दोनों के समन्वय से जीवन रूपी नौका ठीक-ठीक लक्ष्य की दिशा में चलती है। इस सम्बन्ध में स्वामी विवेकानन्द कहते हैं – ''जो साधारण व्यक्ति को जीवन-संग्राम में समर्थ नहीं बना सकती, जो मनुष्य में चरित्र-बल, परहित-भावना तथा सिंह के समान साहस नहीं ला सकती, क्या वह भी कोई शिक्षा है? जिस शिक्षा के द्वारा जीवन में अपने पैरों पर खड़ा हुआ जाता है, वही शिक्षा है।''[३]

स्वामी विवेकानन्द स्वावलम्बी बनानेवाली शिक्षा के सम्बन्ध में कहते हैं – ''आज हमें आवश्यकता है – विदेशी नियन्त्रण हटाकर हमारे विविध शास्त्रों, विद्याओं का अध्ययन हो और साथ-साथ अँग्रेजी भाषा और पाश्चात्य विज्ञान भी सिखाया जाये। हमें उद्योग-धन्धों की उन्नति के लिये तकनीकी शिक्षा भी प्राप्त करनी होगी, जिससे देश के युवक नौकरी ढूँढ़ने के बजाय अपनी जीविका के लिये समुचित धनोपार्जन कर सकें और दुर्दिन के लिये कुछ बचाकर रख भी सकें।''[४]

मानव-जीवन को सन्तुलित और सामञ्जस्यपूर्ण बनाने में शिक्षा को सहयोगी होना चाहिये। छोटी-छोटी बातों में मन का विक्षुब्ध हो जाना, अनावश्यक तनावग्रस्त रहना और दूसरों के साथ सामंजस्य स्थापित करना, मानव की यह दुर्बलता उसके जीवन को विषाक्त कर देती है। वह सबमें अप्रिय और अकेला हो जाता है। शिक्षा मानव-मन को नियन्त्रण कर उसे व्यवहार कुशल बनाने में सहायक होनी चाहिये। इसलिये स्वामी विवेकानन्द कहते हैं, ''शिक्षा किसे कहते हैं? क्या वह पठन मात्र है? नहीं। क्या वह नाना प्रकार का ज्ञानार्जन है? नहीं। यह भी नहीं। जिस संयम के द्वारा इच्छाशक्ति का प्रवाह और विकास वश में लाया जाता है और वह फलदायक होता है, वह शिक्षा कहलाती है?''[५]

शिक्षा का उद्देश्य मानव का अन्तर्निहित विकास है। शिक्षा मानव के श्रेष्ठ चरित्र-निर्माण में सहायक होनी चाहिये। उच्च, श्रेष्ठ चरित्र स्वयं और समाज के लिये हितकर होता है। आन्तरिक श्रेष्ठ गुणों का विकास कैसे हो, यह भी शिक्षा का प्रमुख विषय है और इसे शिक्षार्थी को सुलभता से बोधगम्य कराना चाहिये। मानव के आभ्यान्तरिक सद्गुणों के विकास में धर्म का बहुत बड़ा योगदान है। धर्म मानव की लौकिक और पारलौकिक दोनों का उत्थान करता है। धर्म मानव को नर से देव और देव से ईश्वरत्व में प्रतिष्ठित करने में सहायता करता है। इसलिये स्वामी विवेकानन्द कहते हैं, ''धर्म शिक्षा का अन्तरतम अंग है।''[६]

शास्त्र कहते हैं, **धर्मो हि तेषामधिको विशेषः धर्मेण हीनाः पशुभिः समाना।** मनुष्य में धर्म विशेष है। वह कौन-सा धर्म है, जो पशु से मनुष्य को अलग करता है? कहते हैं –

येषां न विद्या न तपो न दानं,
ज्ञानं न शीलं न गुणो न धर्मः।
ते मृत्युलोके भुवि भारभूता,
मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति।।

– 'जिसके पास विद्या, तप, दान, शील, गुण और धर्म में से कुछ नहीं है, वे मनुष्य रूप में मृग हैं।' मनुस्मृति में धर्म के दश लक्षणों का उल्लेख किया गया –

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्।।

– धैर्य, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय-निग्रह, धी, विद्या, सत्य और अक्रोध, ये दश धर्म के लक्षण हैं।

शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य में उपरोक्त सद्गुणों के संवर्धन में सहयोगी होना चाहिये। शिक्षक का यह कर्तव्य होता है कि वे छात्रों में विभिन्न दृष्टान्तों के द्वारा इन सद्गुणों का समावेश और संवर्धन करें।

शिक्षा-ग्रहण की सदा उत्सुकता बनी रहे

युगावतार भगवान श्रीरामकृष्ण कहते थे, जब तक जीऊँ तब तक सीखूँ। स्वामी विवेकानन्द भी एक स्थान पर कहते हैं – ''जितने दिन जीना है, उतने दिन सीखना है, पर ध्यान रहे, जो कुछ सीखना है, उसे अपने साँचे में ढाल लेना है। अपने वास्तविक तत्त्व को सदा बचाकर, बाकी चीजें सीखनी होंगी।''[७] स्वामीजी आगे कहते हैं, ''दूसरों से उत्तम बातें सीखकर उन्नत बनो। जो सीखना नहीं चाहता, वह पहले ही मर चुका है।''[८]

योग्य छात्र सदा नित्य नवीन कुछ सीखने को तत्पर रहता है। जब व्यक्ति की चेतना का विकास होता है, तब वह चराचर जगत से, पशु-पक्षी, प्रकृति आदि से भी नित्य कुछ न कुछ जीवनोपयोगी शिक्षा ग्रहण करता रहता है। इसके मूल में है, शिक्षा-ग्रहण की तीव्र जिज्ञासा।

शिक्षा के लक्ष्य को परिभाषित करते हुये स्वामी विवेकानन्द कहते हैं, ''सारी शिक्षा का लक्ष्य है मनुष्य का विकास।''[९] स्वामीजी इसे और अधिक स्पष्ट करते हुये कहते हैं, ''जिस शिक्षा से हम अपना जीवन-निर्माण कर सकें, मनुष्य बन सकें, चरित्र-गठन कर सकें और विचारों का सामंजस्य कर सकें, वही वास्तव में शिक्षा कहलाने योग्य है।''[१०]

मनुष्य का सर्वांगीण विकास तभी होता है, जब उसके जीवन में भौतिक और आध्यात्मिक दोनों का समन्वित विकास हो। इसलिये छात्रों को दोनों शिक्षा प्रदान करनी चाहिये। भौतिक शिक्षा हमें जीविका प्रदान कर धन-सम्पति और सुविधायें दे सकती हैं, लेकिन मानसिक शान्ति और प्रसन्नता हेतु आध्यात्मिक शिक्षा की आवश्यकता है। आध्यात्मिक शिक्षा से जीवन की अज्ञानता दूर होती है, ज्ञान-ज्योति का उदय होता है, व्यक्ति संसार के दुखों से विचलित नहीं होता, भौतिक सामग्रियों के अभाव में भी सदा प्रसन्न रहता है और सांसारिक बन्धनों से मुक्त होता है। इसलिये आध्यात्मिक शिक्षा सर्वप्रथम आवश्यक है। स्वामीजी नारियों की शिक्षा कैसी हो, उनके इस उद्धरण के साथ लेखनी को विराम देता हूँ – ''धर्म, शिल्प, विज्ञान, गृहकार्य, रसोई, सिलाई, स्वास्थ्य आदि सब विषयों की मोटी-मोटी बातें सिखलाना उचित है।... सब विषयों में उनकी आँखें खोल देनी होगी। छात्राओं के सामने सर्वदा आदर्श नारी-चरित्र रखकर त्यागरूप व्रत में उनका अनुराग जगाना होगा। कुमारियों को सीता, सावित्री, दमयन्ती, लीलावती, खना, मीराबाई आदि के जीवन-चरित को समझाकर उनको अपना जीवन वैसा ही बनाने का उपदेश देना होगा।''[११] ○○○

सन्दर्भ ग्रन्थ – १. मेरा भारत, अमर भारत, ३२८ **२.** विवेकानन्द साहित्य, ८/२३० **३.** वही, ६/१०६ **४.** वही, ८/२३१ **५.** वही, ७/३५९ **६.** वही, ४/२६८ **७.** वही, १०/६२ **८.** वही, ५/२७३ **९.** वही, ४/१७२ **१०.** वही, ५/१९५ **११.** वही, ६/४०

गाजीपुर की अध्यात्म-त्रिवेणी में श्रीरामकृष्ण, स्वामी विवेकानन्द और पवहारी बाबा

स्वामी अलोकानन्द, वाराणसी

विष्णु पुराण में कहा गया है –

उत्तरं यत् समुद्रस्य हिमाद्रेश्चैव दक्षिणे।
वर्षं तइ भारतं नाम भारती यत्र सन्ततिः।।

अर्थात् समुद्र के उत्तर और हिमालय के दक्षिणभाग में जो भूमिखण्ड है, वह भारतवर्ष नाम से जाना जाता है और भारतवासी इस भारतवर्ष की सन्तान हैं।

आचार्य स्वामी विवेकानन्द भारतवर्ष की गरिमा का वर्णन करते हुए कहते हैं, यह वही भूमि है, जहाँ से धर्म और दार्शनिक सिद्धान्तों ने बाढ़ के पानी की तरह उमड़कर समस्त पृथ्वी को प्लावित किया है और यहीं से फिर उसी प्रकार की तरंगें उठकर समस्त जाति के भीतर जीवन और तेज का संचार करेंगी।''

ऐसे महान भारतवर्ष का प्रत्येक धूलिकण, प्रत्येक क्षेत्र, जनपद तीर्थभूमि के रूप में जाना जाता है। शिवक्षेत्र वाराणसी से थोड़ी ही दूरी पर स्थित गाजीपुर में पवहारी बाबा का साधना-स्थल आज एक पवित्र तीर्थ के रूप में परिणत हो गया है। यह क्षेत्र पवहारी बाबा के साथ श्रीरामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्द की स्मृति के जुड़ जाने से एक आध्यात्मिक त्रिवेणी-संगम के रूप में प्रसिद्ध हो रहा है।

महर्षि विश्वामित्र के पिता थे महाराज गाधि। सम्भवतः महाराज गाधि की राजधानी यहीं थी। इसीलिए इसका प्राचीन नाम है गाधिपुर। मुस्लिम शासनकाल में यह नाम बदल कर गाजीपुर हुआ और यही नाम अब तक चला आ रहा है। फिर भी इस स्थान की आध्यात्मिक परम्परा नष्ट नहीं हुई। महात्मा पवहारी बाबा के साधना-स्थल गाजीपुर में आज भी प्राचीन भारतीय धर्म-परम्परा का बाह्य रूप वर्तमान है।

पवहारी बाबा का आविर्भाव १८४० ई. में जौनपुर जिले के प्रेमापुर गाँव में हुआ। एक अन्य मतानुसार वाराणसी जिले के गुजी नामक गाँव में उनका जन्म हुआ। श्रीरामकृष्ण देव का अविर्भाव १८३६ ई. में बंगाल में हुआ। इस प्रकार पवहारी बाबा श्रीरामकृष्ण देव के सम-सामायिक थे।

पवहारी बाबा के एक चाचा रामानुज-मतावलम्बी श्री सम्प्रदाय के अनुगामी थे। उन्होंने गाजीपुर के उत्तर गंगा के किनारे स्थित कुर्था गाँव में साधना-स्थल के रूप में एक मठ स्थापित किया। (स्वामी विवेकानन्द ने लिखा है – गंगा के किनारे, गाजीपुर से दो मील उत्तर। लेकिन मानचित्र के अनुसार कुर्था गाँव में यह आश्रम गाजीपुर से दक्षिण पश्चिम दिशा में स्थित है।) उनका जीवन इष्टदेव श्रीरामचन्द्र की उपासना और सत्संग आदि में व्यतीत होता था। उनकी कोई शिष्य-परम्परा नहीं थी। इसलिए उन्होंने अपने भतीजे (पवहारी बाबा) को गोद लिया और वे उसे मठ में ले आए,

ताकि मठ का उत्तरदायित्व उसको सौंप सकें। यहीं रहते हुए पवहारी बाबा ने दैनन्दिन पूजा, उपासना और साधना आदि के साथ-साथ व्याकरण, न्याय और अपने सम्प्रदाय के परम्परागत धर्म-ग्रन्थों का अध्ययन किया। सहपाठियों के साथ उनका स्नेह-प्रेम और मित्रता अटूट थी। वे हँसी मजाक, खेल-कूद करते हुए एक जीवन्त बालक की भाँति हमेशा आनन्द में रहते। काल-चक्र से उनके चाचा का निधन हो गया। 'दुखत्रयाभिघातात् जिज्ञासा' ...इस वाक्य के अनुसार चाचा की मृत्यु के बाद संसार की अनित्यता का बोध उनके अन्त:करण में प्रवेश कर गया। उनके मन में यह जिज्ञासा उठी कि इस दुख से परित्राण का उपाय क्या है?

अशान्त मन को शान्त करने के लिए वे शान्ति की खोज में निकल पड़े। सुख-दुख का विशाल पहाड़ मानो उनकी साधना का फल है। वहाँ पर्वत की एक गुफा में वे एकान्त वास करने लगे। ध्यान-भजन आदि की सहायता से धीरे-धीरे उन्हें जीवन के उद्देश्य का ज्ञान हुआ। ''रमता साधु बहता पानी, इसमें कभी न मैल बखानी''। वे ज्ञानार्जन की इच्छा से भारत के तीर्थों में परिभ्रमण करने लगे। इन तीर्थों में साधन, भजन और सत्संग के द्वारा उन्हें मन की शान्ति प्राप्त हो गई। अनेक वर्षों तक इसी प्रकार भ्रमण करते हुए अन्त में वे गाजीपुर लौट आए। संगी-साथियों ने उनमें एक नया ही मनुष्य देखा – शान्त, सौम्य, धीर, स्थिर, अध्यात्म भावना से उज्ज्वल एक महात्मा। वे विस्मित हुए और श्रद्धा-भक्ति से उनका सिर नत हो गया।

उसके बाद उनके जीवन का द्वितीय पर्व आरम्भ हुआ। वाराणसी के निकट गंगा के तट पर रहनेवाले एक संन्यासी का शिष्यत्व ग्रहण करके वे अद्वैत तत्त्व का अनुशीलन करने लगे। गुरु का अनुसरण करते हुए वे कुर्था गाँव में गंगातट पर एक गुफा बनाकर वहीं साधन-भजन करने लगे। भोजन आदि के मामले में उन्होंने कठोर नियमों का पालन किया। दिन भर और कुछ न खाकर कुछ नीम की पत्तियाँ और मिर्च खाकर रहते। बिना कुछ खाए रहने के कारण लोगों में वे पवहारी बाबा अर्थात् पवन या वायु भक्षण करके रहनेवाले बाबा के नाम से जाने जाने लगे। वे सारा दिन आश्रम में प्रेमास्पद श्रीरामचन्द्र की पूजा किया करते। वे बहुत अच्छा खाना पकाना जानते थे। वे अनेक प्रकार के भोग प्रस्तुत करके श्रीरामचन्द्रजी को निवेदित करते और उपस्थित, संतों, अतिथियों और कंगालों को प्रसाद बाँट देते। जब रात को सभी लोग सो जाते, तब वे नि:शंक भाव से गंगा में तैरकर उस पार जाकर साधन-भजन करते और भोर होने से पहले ही लौट आते और आश्रम के दैनिक कार्यों में लग जाते। अधिक समय गुफा में साधन-भजन करते हुए व्यतीत करते। कभी-कभी बाहर आते और दर्शनार्थियों के प्रश्नों का उत्तर देते। बीच-बीच में साधु-सन्तों को भण्डारे के लिए आमन्त्रित करके अपने हाथ से भोजन बनाकर खिलाते। सेवा का भाव उनमें विशेष रूप से प्रकट हुआ।

बाबाजी के जीवन में ईश्वर-निर्भरता, सभी प्राणियों में अपने प्रेम-देवता का दर्शन, विनय, नम्रता, निरहंकारिता और सेवा-भाव का उदय हुआ था। एक बार उनके आश्रम में एक चोर आ घुसा। भीतर बाबाजी को देखकर चोर चुराई हुई चीजों की गठरी फेंक कर भागा। बाबाजी भी गठरी लेकर उसके पीछे दौड़ने लगे और उसके पास पहुँचकर हाथ जोड़कर क्षमा-प्रार्थना करते हुए उन सभी वस्तुओं को वापस लेने का अनुरोध करने लगे। उन्होंने कहा – यह सब मेरा नहीं, तुम्हारा है। बाद में चलकर इस चोर के जीवन में भारी परिवर्तन हुआ। वह साधु होकर हिमालय में जाकर साधना करने लगा। परिव्राजक जीवन में विवेकानन्द के साथ उसकी भेंट हुई थी। स्वामीजी ने उससे ही यह घटना सुनी थी और बाद में पवहारी बाबा के जीवनी में उसका उल्लेख किया था।

एक बार बाबाजी को गेहुँआ साँप ने काट लिया। वे कई घंटे बेहोश रहे। सब ने समझा, वे मर गए। लेकिन वे स्वस्थ हो गए और उठकर बोले, 'यह साँप मेरे प्रियतम के पास से दूत के रूप में आया था'।

ऐसे महापुरुष जब गाजीपुर में साधना कर रहे थे, उसी समय युगावतार श्रीरामकृष्ण और नरेन्द्रनाथ (परवर्ती काल

में स्वामी विवेकानन्द) भी कलकत्ता में रह रहे थे। इन तीनों व्यक्तियों का एक सम्मिलन स्थल है गाजीपुर।

श्रीरामकृष्ण देव के साक्षात् सम्पर्क में वे आए थे – उनकी जीवनी के प्रकाश में हमलोग अनुमान कर सकते हैं। सबसे पहले तो हम देखते हैं कि बाबाजी तीर्थों का भ्रमण करते समय बंगाल में बहुत समय तक रहे थे। संत-महात्मा परिव्रज्या-काल में मठ, मन्दिर, वृक्ष के नीचे पड़े रहते थे। उस समय कलकत्ता के पास दक्षिणेश्वर में रानी रासमणि की काली बाड़ी में श्रीरामकृष्ण देव के आदेशानुसार मथुरानाथ विश्वास के द्वारा संत-महात्माओं के निवास और भोजन की व्यवस्था के साथ सदाव्रत चलता था। यह अनुमान किया जा सकता है कि बाबाजी यहाँ ठहरे होंगे और श्रीरामकृष्ण देव का दर्शन किया होगा और उनकी वाणी से प्रभावित हुए होंगे। जिस दिन दक्षिणेश्वर में श्रीरामकृष्ण देव ने 'शिवभाव से जीवसेवा' का एक नया विचार भक्तों के सामने रखा था और वहाँ उपस्थित नरेन्द्रनाथ ने कहा था, आज एक नया प्रकाश मिला। भगवान ने सुयोग दिया, तो एक दिन इस वाणी को साकार करके दिखलाऊँगा। नरेन्द्रनाथ ने यह शपथ ली, उस समय वहाँ बाबाजी भी उपस्थित थे, यह अनुमान किया जा सकता है। इस अनुमान के पीछे वास्तविक करुणा भी है। सबसे पहले तो यह कि जिस प्रकार दक्षिणेश्वर में साधु महात्माओं की सेवा के लिए सदाव्रत की व्यवस्था थी, उसी प्रकार बाबाजी ने अपने जीवन के उत्तर काल में गाजीपुर में भक्तों के बीच श्रीरामचन्द्रजी के प्रसाद-वितरण की व्यवस्था की। यह उनकी साधना का अंग था। श्रीरामकृष्ण देव का एक फोटो उनके आश्रम में यत्नपूर्वक रक्षित था। किसी के पूछने पर उन्होंने उत्तर दिया, ''ये साक्षात् भगवान के अवतार हैं।'' उसके अतिरिक्त स्वामी गम्भीरानन्द ने भी 'युगनायक विवेकानन्द' नामक पुस्तक में लिखा है, पवहारी बाबा का नाम उन्होंने (स्वामी विवेकानन्द ने) दक्षिणेश्वर में ही सुना था और श्रीरामकृष्ण देव की महासमाधि के बाद उनके दर्शन की अभिलाषा भी उनके मन में बनी हुई थी।''

श्रीरामकृष्ण देव के बारे में बाबाजी को पता था, यह बात एक दूसरे स्थान पर मिलती है। १८८५ ई. का समय। उस समय श्रीरामकृष्ण श्यामपुकुर के बगीचे में रह रहे थे। उन्होंने एक दिन सबेरे ही वहाँ उपस्थित व्यक्ति से कहा, ''आज एक खूब बलिष्ठ शरीरवाले गेहुँआ रंग की लंगोटी पहने डॉ. साधु को देखा।'' लगभग एक घंटा बाद काले रंग का कुर्ता और सिर पर टोपी पहने एक आदमी आया और उसने पूछा, महाराज, इस मकान में कोई परमहंसदेव रहते हैं? मैं एक बार उनका दर्शन करने आया हूँ। अभी उनका दर्शन हो सकता है क्या? उपस्थित व्यक्ति ने कहा, 'जी हाँ, आइए और उसको लेकर श्रीरामकृष्ण के पास ले गए। वहाँ कुछ समय तक आत्मस्थ रहकर उस व्यक्ति ने अपना परिचय देते हुए ठाकुर से कहा, कि वे एक ईसाई हैं। बहुत समय तक निर्जन वन में प्रभु ईसा का ध्यान किया। ईसाई होकर भी हिन्दू शास्त्रों के प्रति उनकी श्रद्धा थी। योगशास्त्र के अनुसार भी उन्होंने साधना-उपासना की थी। एक बार इसी प्रकार ध्यान करते हुए उनको 'दर्शन' हुआ। उन्होंने दो व्यक्तियों को देखा। उनमें से एक उच्चावस्था में स्थित थे, दूसरे उनके चरणप्रान्त में। ये भी साधारण नहीं, तो भी उनकी ऊँचाई तक नहीं पहुँचे। इसके बाद वे उन साधुओं की खोज में निकल पड़े। कई स्थानों पर खोजने के बाद गाजीपुर पहुँचे और पवहारी बाबा का नाम सुनकर उनके आश्रम में उपस्थित हुए। लेकिन अपनी बाल्यावस्था में देखी गई मूर्ति से बाबाजी का कोई सादृश्य न देखकर वे निराश हो गए। अचानक उनकी दृष्टि बाबाजी के घर में रखे श्रीरामकृष्ण के फोटो पर पड़ी। यह तो ठीक वही मूर्ति थी, जो उन्होंने अपने ध्यान में देखी थी। बाबाजी से पूछने पर उन्होंने बताया, ''वे हैं रामकृष्ण परमहंस, साक्षात् भगवान के अवतार।'' उन्होंने पूछा, ''इनका दर्शन कैसे होगा'' तब बाबाजी ने बताया, 'वे पूरब की ओर दक्षिणेश्वर में काली मन्दिर में रहा करते थे। इस समय एक गंभीर रोग से ग्रस्त होने पर भक्तों ने उन्हें चिकित्सा के लिये कलकत्ता में किसी स्थान पर ले जाकर रखा है।'' यह सूचना पाकर ये महात्मा कलकत्ता पहुँच गए। श्रीरामकृष्ण ने उन पर कृपा की और वे भी उनके भीतर अपने इष्ट का प्रत्यक्ष दर्शन करके धन्य हुए।

इस घटना से बाबाजी का श्रीरामकृष्ण से सम्बन्ध-सूत्र जानकर यह समझ सकते हैं कि उनके बीच आध्यात्मिक सम्बन्ध अवश्य था। इन्हीं सब अनुमानों के आधार पर इस गाजीपुर में सूक्ष्म भाव से श्रीरामकृष्ण देव की उपस्थिति की कहानी स्वामी विवेकानन्द के माध्यम से जानेंगे।

२२ जनवरी, १८९० को स्वामी विवेकानन्द गाजीपुर पहुँचे। उद्देश्य था बाबाजी का साक्षात् दर्शन और उनसे राजयोग के बारे में कुछ शिक्षा ग्रहण करना। स्वामीजी

आध्यात्मिक मार्ग की चरम अनुभूति निर्विकल्प समाधि के पूर्व में ही श्रीरामकृष्ण की कृपा से प्राप्त कर चुके थे। हमें लगता है कि भविष्य में उनको जो कार्य सम्पन्न करना था, उसके लिये स्वस्थ, सबल और बलिष्ठ शरीर की आवश्यकता थी, शायद इसीलिए राजयोग और हठयोग की कुछ साधना करने के लिए वे ऐसी गुफा की खोज में आए थे। पवहारी बाबा से उन्हें एक शिक्षा मिली थी, ''गुरु के घर में गाय के जैसे पड़े रहो।'' पवहारी बाबा के प्रति स्वामीजी की अपार श्रद्धा का परिचय हम उनके परवर्ती जीवन में पाते हैं।

गाजीपुर में स्वामीजी अप्रैल महीने (१८९०) तक रुक गए। यहाँ पर वे अपने एक पूर्व परिचित श्रीगगन चन्द्र राय महाशय के ''ऊँची चारदीवारी से घिरी हुई, उद्यान से युक्त और चिमनी से सुशोभित एक उद्यान वाटिका में थे। बाबाजी के साथ पहली भेंट में ही उनके बीच एक प्रीति का सम्बन्ध बन गया। उन्होंने स्वामीजी से यहाँ कुछ दिन ठहरने के लिए लिए अनुरोध किया। एक महात्मा दूसरे महात्मा को साधु-संग के लिए अवश्य ही पसन्द करते हैं। यहाँ स्वामीजी बाबाजी की दैनन्दिन जीवन को देखकर मुग्ध हो गए।

ऐसे एक महान संत की दीनता और विनय ने स्वामीजी को मुग्ध किया। लेकिन वे चाहते थे कि जगत् के कल्याण के लिए इस प्रकार के महापुरुष को कुछ करना चाहिए। इससे बहुत-से लोग उनके उपदेश और आशीर्वाद से जीवन की उन्नति कर सकेंगे। इस आशा से स्वामीजी जब उनसे कुछ कहते, तो बाबाजी के मुँह से केवल इसी प्रकार के कुछ दीक्षापूर्ण वाक्य सुनाई देते, ''दास क्या जाने'' अथवा ''कुछ दिन यहाँ ठहरकर मुझे कृतार्थ कीजिए।'' एक दिन स्वामीजी ने उनसे पूछा कि जगत के कल्याण के लिए आप अपनी गुफा से बाहर क्यों नहीं आते। तब उन्होंने विनयपूर्वक कहा, 'आप क्या समझते हैं, केवल स्थूल देह द्वारा ही दूसरों का उपकार किया जा सकता है, एक मन शरीर की सहायता से निरपेक्ष रहकर दूसरे के मन की सहायता कर सकता है, क्या आप इसको सम्भव नहीं मानते?''

पवहारी बाबा की एक शिक्षा थी – 'जौन साधन तौन सिद्धि।'' स्वामीजी ने इसे कर्मयोग का रहस्य बताकर इसका उल्लेख किया है। स्वामीजी ने देखा था कि बाबाजी श्रीरामचन्द्रजी की पूजा में जैसा यत्न और मनोयोग देते, अपनी ताँबे की लुटिया माँजते हुए भी ठीक वैसा ही करते।

बहुत प्रतीक्षा के बाद भी जब बाबाजी के उदार हाथों से कुछ न मिला, तब स्वामीजी ने सोचा – शायद बाबाजी से दीक्षा लेने पर राजयोग सीखने का मार्ग सुगम हो जाये। इसीलिए उन्होंने दीक्षा लेने का निश्चय किया। निर्दिष्ट दिन की पूर्वरात्रि को जब वे खाट पर सोये हुए थे और सोच-विचार कर रहे थे, उसी समय उनका कमरा एक दिव्य ज्योति से उद्भासित हो गया और उन्होंने देखा कि श्रीरामकृष्ण वहीं सशरीर उपस्थित हैं और उनकी सस्नेह, किन्तु वेदना से भरी-भरी छल-छल हो रही आँखे उन्हीं की आँखों पर लगी हैं।

स्वामीजी अब स्थिर न रह सके। पसीने से सराबोर उनका शरीर काँपने लगा। कुछ बोलते नहीं बना। मन आत्मग्लानि से भर गया और आँखें आँसुओं से। इसलिए दीक्षा का दिन स्थगित हो गया। लेकिन यही घटना जब कई बार घटने लगी, तब स्वामीजी ने दीक्षा का विचार छोड़ दिया। तब से श्रीरामकृष्ण उनके हृदय में पूर्ण महिमा के साथ विराजित रहे। यह घटना सम्भवत: ३ मार्च से पहले ही घटी होगी। क्योंकि स्वामीजी ने ३ मार्च, १८९० के पत्र में काशी के पंडित प्रमदादास मित्र को लिखा है, मैं अब किसी बड़े आदमी के पास न जाऊँगा।... अब मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि श्रीरामकृष्ण के जोड़ का कोई दूसरा नहीं। वैसी अपूर्व सिद्धि, वैसी अपूर्व अकारण दया, जन्म-मरण से जकड़े हुए जीव के लिए वैसी प्रगाढ़ सहानुभूति इस संसार में और कहाँ? या तो वे अपने कथनानुसार अवतार हैं अथवा वेदान्त दर्शन में जिसे नित्य सिद्ध महापुरुष, 'लोकहिताय मुक्तोऽपि शरीरग्रहणकारी' कहा गया है, वे हैं, निश्चित निश्चित इति मे मति:। ऐसे महापुरुष की उपासना के विषय में पातंजल योग-सूत्र 'ईश्वर प्रणिधानाद्वा' का 'महापुरुष प्रणिधानाद्वा' के किंचित् परिवर्तित रूप में उल्लेख किया जा सकता है।''

श्रीरामकृष्ण के इस दिव्य दर्शन की अनुभूति को स्वामीजी ने बाद में 'गाता हूँ गीत मैं तुम्हें ही सुनाने को' शीर्षक कविता में व्यक्त किया है –

''बालकेलि करता हूँ, तुमसे मैं
और क्रोध करके देव
तुमसे किनारा कर जाना भी चाहता हूँ
किन्तु निशा-काल में
शय्या के शिरो भाग में
देखता हूँ तुमको मैं खड़े हुए -

चुपचाप, आँखें छलछलाई हुईं
हेरते हो मेरे तुम मुख की ओर।
उसी समय बदल जाता भाव मेरा
पैरों पड़ता हूँ
पर क्षमा नहीं माँगता,
तुम नहीं करते हो रोष
पुत्र हूँ तुम्हारा, कहो
और कोई कैसे इस प्रगल्भता को
सहन कर सकता है?'' (वि. सा., खंड ९, पृ. ३२८)

इसी कविता में स्वामीजी ने और भी कहा है –

दास हूँ तुम दोनों का
सशक्तिक चरणों में प्रणाम है तुम्हारे देव।
गूँजता अनाहत नाद सुन्दर तुम्हारा वहाँ
भक्तिपूर्वक सुनता यह दास
है तत्पर सदा ही
पूर्ण करने को तुम्हारा काम। (वि.सा. ९/३२८)

यह हुई सूक्ष्म रूप से उस तीर्थ में श्रीरामकृष्ण की उपस्थिति। इसीलिए हमें प्रतीत होता है कि यह गाजीपुर पुण्य क्षेत्र पवहारी बाबा की साधना, श्रीरामकृष्ण की सूक्ष्म उपस्थिति और स्वामी विवेकानन्द के साक्षात् संस्पर्श से एक आध्यात्मिक-त्रिवेणी-संगम में परिणत हो गया है। इस संगम में पुण्यलाभ की आशा से आज भी भक्तवृन्द दूर-दूर से आ रहे हैं।

स्वामी विवेकानन्द पवहारी बाबा को एक उच्च कोटि का सन्त-महात्मा मानते थे। इस प्रकार के संत लोकचक्षु की ओट में रहकर लोककल्याण के काम में लगे रहते हैं। किसी प्रकार का आत्म-प्रचार नहीं चाहते। देहत्याग से कुछ दिन पहले तक वे अपनी गुफा में होम-याग आदि में लगे रहते थे। अचानक एक दिन बाहर निकलते धुएँ में जले हुए माँस की गंध से व्यग्र होकर लोगों ने गुफा का द्वार तोड़कर देखा कि महायोगी ने होमाग्नि में स्वयं अपनी आहुति दे दी है। बाबाजी के देहत्याग की सूचना पाकर स्वामीजी बहुत दुखित हुए। उस समय वे हिमालय की गोद में अलमोड़ा में प्रवास कर रहे थे। ५ जून, १८९८ रविवार को उन्होंने उपस्थित शिष्य-शिष्याओं से कहा, 'अभी मुझे एक पत्र मिला है, जिसमें लिखा है कि पवहारी बाबा ने अपनी देह के द्वारा अपने यज्ञों की पूर्णाहुति प्रदान की है। उन्होंने होमाग्नि में अपनी देह को भस्मीभूत कर दिया है।'' यह सुनकर श्रोताओं के बीच से किसी ने संशय करते हुए कहा, ''स्वामीजी, यह तो बहुत अनुचित काम हुआ।'' स्वामीजी ने आवेग कंपित कंठ से कहा, 'मैं भला क्या कह सकता हूँ? वे एक बहुत बड़े महापुरुष थे, मैं उनके कर्मों का मूल्यांकन करने का अधिकारी नहीं हूँ। उन्होंने क्या किया, यह तो वही जानते होंगे।'' (युगनायक विवेकानन्द खंड ३, पृ.१०६)

इतना ही नहीं, स्वामीजी ने इसके बाद १८९९ ई. में 'ब्रह्मावादिन्' पत्रिका में अंग्रेजी में बाबाजी के जीवन-चरित पर एक प्रबन्ध लिखा। विश्व के समक्ष इस भारतीय योगी का परिचय स्वामी विवेकानन्द ने ही प्रसारित किया, यह उनके प्रति उनकी गहरी श्रद्धा का परिचायक है। इस प्रबन्ध में भी स्वामीजी ने बाबाजी के इस प्रकार देहत्याग के प्रसंग में सामान्य मनुष्यों के संशय का खण्डन करते हुए लिखा है –

अलोक-सामान्यमचिन्त्यहेतुकम्
निन्दन्ति मन्दाश्चरितं महात्मनाम्। (कुमारसम्भव)

– अर्थात् मन्दबुद्धि व्यक्ति महात्माओं के कार्यों की निन्दा करते हैं, क्योंकि महात्माओं के कार्य आसाधारण होते हैं और उनके कारण भी सर्वसाधारण व्यक्तियों की विचार-शक्ति, समझ से परे होते हैं। तथापि उनके साथ विशेष परिचय होने के कारण एक अनुमान लगाने का साहस कर सकते हैं कि उन्होंने जान लिया था कि उनके जीवन का अन्तिम क्षण समीप आ गया है और उनकी मृत्यु के बाद भी किसी को कन्धा न देना पड़े, इसीलिए उन्होंने पूर्ण स्वस्थ शरीर और मन से आर्यों का यह अन्तिम यज्ञ भी सम्पन्न कर डाला।'' (वि.सा. ९/२७१)

अन्त में उपसंहार के रूप में, प्रबन्ध के अन्तिम वाक्य में पवहारी बाबा के प्रति स्वामी विवेकानन्द की अपार श्रद्धा व्यंजित करनेवाली पंक्तियाँ उद्धृत करता हूँ, ''वर्तमान लेखक इस परलोकगत महात्मा के प्रति परम ऋणी है। इस लेखक ने जिन श्रेष्ठ आचार्यों से प्रेम किया है तथा जिनकी सेवा की है, उनमें से वे एक हैं। उनकी पवित्र स्मृति में मैं ये पंक्तियाँ चाहे जैसी भी अयोग्य हों, समर्पित करता हूँ।'' (वि. सा. खंड ९, पृ.२७१) ○○○

शिक्षक दिवस विशेष

अनमोल शिक्षक सुजीत

श्रीमती मिताली सिंह, बिलासपुर

बच्चो ! हम जानते हैं कि ५ सितम्बर को शिक्षक दिवस के रूप में मनाया जाता है। इसी उपलक्ष्य में आज हम एक ऐसे व्यक्तित्व के बारे में बात करेंगे, जिन्होंने शिक्षक की नौकरी से सेवानिवृत्त होकर भी समाज में गरीब बच्चों को नि:शुल्क शिक्षा देकर उन्हें इस योग्य बनाया, जो आज कई विभिन्न पदों पर सेवा कर रहे हैं।

आज की कहानी एक आदर्श व्यक्तित्व, नि:स्वार्थ शिक्षक श्री सुजीत चट्टोपाध्याय की है। उन्हें नवम्बर, २०२१ में पद्मश्री पुरस्कार से सम्मानित किया गया। वे ७० वर्ष की आयु में शिक्षा के प्रसार के लिये दशकों से अथक प्रयास कर रहे हैं, विशेषकर आदिवासी विद्यार्थियों की शिक्षा के लिए। ये भारत के वे अप्रसिद्ध नायक हैं, जिनके प्रयासों की देश भर में प्रशंसा की जानी चाहिए।

चलिए, उन्हीं की वाणी में उनकी कहानी सुनते हैं – ''जिस दिन मैंने अपनी स्नातकोत्तर डिग्री प्राप्त की, उसके बाद मैंने १ मिनट भी नष्ट नहीं किया। मैं शिक्षक बनने के लिए अपने गाँव, बंगाल के औसग्राम, वर्दमान वापस चला गया। हाँ, मेरे पास बड़े शहरों के विद्यालय से अधिक वेतन

के प्रस्ताव थे, लेकिन मेरे लिए वह १६९ रु. वेतन का प्रस्ताव, जो मुझे मेरे गाँव के विद्यालय द्वारा दिया गया था, सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण था। मैं अपने गाँव के उन विद्यार्थियों को पढ़ाने के लिए बहुत ही उत्सुक था, जिन्हें एक अच्छे शिक्षक की अधिक आवश्यकता थी। मैंने अपने विद्यालय में ३९ साल तक पढ़ाया और उसके बाद मैं ६० वर्ष की आयु में सेवानिवृत्त हो गया। पर मेरा मन बहुत ही बेचैन था। मैं सेवानिवृत्त नहीं होना चाहता था। मैं अपने आप से बार-बार पूछता – अब मैं क्या करूँ? कुछ ही दिनों बाद, मुझे मेरे प्रश्न का उत्तर मिल गया। एक दिन सुबह लगभग ६ बजे मैंने देखा कि ३ लड़कियाँ मेरे घर की ओर आ रही हैं। मैं यह सुनकर चौंक गया, जब उन बच्चियों ने मुझसे कहा कि वे उस मास्टर को देखने के लिये २३ कि.मी. से अधिक साइकिल चलाकर आई हैं, जो अब सेवानिवृत्त हो चुके थे। वे आदिवासी युवतियाँ थीं, जो पढ़ने और कुछ सीखने के लिए बेचैन थीं। उन्होंने हाथ जोड़कर पूछा, ''मास्टर जी, क्या आप हमें पढ़ायेंगे? मैं अविलम्ब मान गया और कहा, 'मैं तुम्हें पढ़ा सकता हूँ, लेकिन तुम्हें मेरे विद्यालय के पूरे वर्ष की फीस देनी होगी। क्या तुम देने के लिये तैयार हो?'' उन लड़कियों ने तुरन्त उत्तर दिया, ''हाँ मास्टरजी, हम किसी भी प्रकार से पैसे की व्यवस्था कर लेंगे।'' तो मैंने कहा ठीक है, मेरे पूरे वर्ष की फीस १ रुपया है।'' यह सुनकर वे आदिवासी लड़कियाँ इतनी खुश हो गईं कि उन्होंने मुझे अपने गले लगा लिया और कहा, 'मास्टरजी, हम आपको १ रुपया और उसके साथ ४ चाकलेट भी देंगे।' मुझे ऐसा लगा, मुझे फिर से जीने का एक सुयोग मिल गया है। इसलिए उनके जाने के बाद, मैं अपने कपड़े बदलकर सीधे अपने विद्यालय चला गया और प्रधानाचार्य से उन आदिवासी लड़कियों को पढ़ाने के लिए एक कमरा देने का अनुरोध किया। प्रधानाचार्य ने मेरी सहायता करने से मना कर दिया। लेकिन अब मैं रुकनेवाला नहीं था। ३९ साल पढ़ाने के बाद भी मेरे अंदर पढ़ाने की 'बहुत' ऊर्जा

शेष भाग पृष्ठ ४१२ पर

प्रश्नोपनिषद् (४८)

श्रीशंकराचार्य

(सनातन वैदिक धर्म के ज्ञानकाण्ड को उपनिषद् कहते हैं। हजारों वर्ष पूर्व भारत में जीव-जगत् तथा उससे सम्बद्ध गम्भीर विषयों पर प्रश्न उठाकर उनकी जो मीमांसा की गयी थी, ये उन्हीं के संकलन हैं। वैदिक धर्म की पुन: स्थापना हेतु आचार्य ने इन पर सहज-सरस भाष्य लिखकर अपने सिद्धान्त को प्रतिपादित किया था। प्रश्नोपनिषद् पर लिखे उनके भाष्य का हिन्दी अनुवाद 'विवेक-ज्योति' के पूर्व-सम्पादक स्वामी विदेहात्मानन्द जी द्वारा किया गया है, जिसे 'विवेक-ज्योति' के पाठकों हेतु प्रस्तुत किया जा रहा है। –सं.)

भाष्य – अनपाय-उपजन-धर्मक-चैतन्यम्-आत्मा एव नाम-रूपादि-उपाधि-धर्मैः प्रत्यवभासते 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै.उ. २/१/१) 'प्रज्ञानं ब्रह्म' (ऐ.उ. ५/३) 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' (बृ.उ. ३/९/२८) 'विज्ञानघन एव' (बृ.उ. २/४/१२) इत्यादि-श्रुतिभ्यः।

भाष्यार्थ – परन्तु ह्रास या वृद्धि से रहित गुण-धर्मवाली चैतन्य आत्मा ही, नाम-रूप आदि उपाधियों के गुण से (युक्त होकर) प्रकाशित होती है, जैसा कि श्रुतियों में कहा गया है, ''ब्रह्म सत्य, ज्ञान तथा अनन्त स्वरूप-वाला है'', ''ब्रह्म प्रज्ञान स्वरूप है'', ''विज्ञान आनन्द-स्वरूप है'', ''वह विज्ञानघन ही है''।

भाष्य – स्वरूप-व्यभिचारिषु पदार्थेषु चैतन्यस्य अव्यभिचाराद् यथा यथा यः यः पदार्थो विज्ञायते तथा तथा ज्ञायमानत्वाद् एव तस्य तस्य चैतन्यस्य अव्यभिचारित्वम्।

भाष्यार्थ – स्वरूप से ही व्यभिचारी (परिवर्तनशील, अस्थायी) पदार्थों में स्थित चैतन्य के अव्यभिचारी (अविचल) होने के कारण, जो-जो पदार्थ जैसा-जैसा प्रतीत होता है, वैसा-वैसा प्रतीत होते रहने के कारण ही उस-उस पदार्थ का चैतन्य अविचल रहता है।

भाष्य – वस्तु-तत्त्वं भवति किञ्चित्; न ज्ञायते इति च अनुपपन्नम्, रूपं च दृश्यते न च अस्ति चक्षुः इति यथा।

भाष्यार्थ – यदि कोई कहे कि कोई (यथार्थ) वस्तु तो है, परन्तु उसे जाना नहीं जा सकता, तो यह वैसा ही है जैसे कोई कहे कि रूप तो दिखता है, परन्तु नेत्र नहीं है।

भाष्य – व्यभिचरति तु ज्ञेयम्; न ज्ञानं व्यभिचरति कदाचिद्-अपि ज्ञेयम्, ज्ञेय-अभावे अपि ज्ञेयान्तरे भावात् ज्ञानस्य। न हि ज्ञाने असति ज्ञेयं नाम भवति कस्यचित्; सुषुप्ते अदर्शनात्।

भाष्यार्थ – (ज्ञान का) ज्ञेय वस्तु में तो परिवर्तन होता है; एक ज्ञेय के अभाव में दूसरे ज्ञेय में भी ज्ञान की उपस्थिति के कारण ज्ञान में कदापि परिवर्तन नहीं होता। ज्ञान के अभाव में भी ज्ञेय विद्यमान रहता है, जैसाकि सुषुप्ति काल में उस (ज्ञान) का अभाव दीख पड़ता है।

शंका – ज्ञानस्य अपि सुषुप्ते अभावात् ज्ञेयवत्-ज्ञान-स्वरूपस्य व्यभिचार इति चेत्।

भाष्यार्थ – सुषुप्ति काल में (वृत्ति-) ज्ञान (चेतना) का भी अभाव होने से, ज्ञेय वस्तु में परिवर्तन के समान ही यदि ज्ञान के स्वरूप में भी परिवर्तन माने तो!

समाधान – ज्ञेय-अवभासकस्य ज्ञानस्य आलोकवत् ज्ञेय-अभिव्यञ्जकत्वात् स्व-व्यङ्ग्य-अभाव-आलोक-अभाव-अनुपपत्तिवत्-सुषुप्ते विज्ञान-अभाव-अनुपपत्तेः।

भाष्यार्थ – नहीं, क्योंकि जहाँ तक ज्ञान, जो प्रकाश की तरह, अपनी वस्तुओं को प्रकट करता है, अपनी वस्तु का प्रकाशक है, जैसे प्रकाश की अनुपस्थिति का अनुमान प्रकाश की जानेवाली वस्तु की अनुपस्थिति से नहीं लगाया जा सकता; वैसे ही, तार्किक रूप से, नींद के दौरान ज्ञान की अनुपस्थिति का अनुमान नहीं लगाया जा सकता।

भाष्य – न हि अन्धकारे चक्षुषा रूप-अनुपलब्धौ चक्षुषो अभावः शक्यः कल्पयितुं वैनाशिकेन।

भाष्यार्थ – अन्धकार के भीतर, नेत्र के द्वारा रूप की अनुपलब्धि होने से, आँख नहीं है, ऐसा कहना अनुचित है, कोई भी वैनाशिक (विनाशवादी, क्षणिक विज्ञानवादी बौद्ध) ऐसा नहीं कह सकता।

शेष भाग पृष्ठ ४०६ पर

रामगीता (२/२)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(पं रामकिंकर महाराज श्रीरामचरितमानस के अप्रतिम विलक्षण व्याख्याकार हैं। रामचरितमानस में रस है, इसे सभी जानते हैं और कहते हैं, किन्तु रामचरितमानस में रहस्य है, इसके उद्‌घाटक 'युगतुलसी' की उपाधि से विभूषित श्रीरामकिंकर जी महाराज हैं। उन्होंने यह प्रवचन रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के पावन प्रांगण में विवेकानन्द जयन्ती के उपलक्ष्य में दिया था। 'विवेक-ज्योति' हेतु इसका टेप से अनुलेखन श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर के सेवानिवृत्त प्राध्यापक श्री राजेन्द्र तिवारी जी और सम्पादन स्वामी प्रपत्त्यानन्द ने किया है। – सं.)

परम श्रद्धेय स्वामीजी महाराज ने जो प्रश्न इस बार किया, वह बहुत महत्त्वपूर्ण था। उसका मूल सूत्र यह है कि व्यवहार तो बाहर है, लेकिन हम केवल बाहर ही हैं क्या? अगर हम समस्या के मूल को समझना चाहें, तो जीवन में रोग है, दवा है; रोग और दवा। दोनों जीवन में साथ-साथ चलते रहते हैं। वह तो है ही अधिकांश लोगों का जीवन। पर यदि रोग का मूल कारण और उसका निराकरण, उसका समाधान, इसकी आवश्यकता का अनुभव जिसको हो रहा हो, वह इस प्रसंग पर जब दृष्टि डालेगा, तो उन प्रश्नों पर, उन समस्याओं पर दृष्टि जायेगी, जिनके कारण हमारे जीवन में शोक होता है, हमारे अन्त:करण में मोह होता है, तो हमारी बुद्धि भ्रमित हो जाती है। इसलिए गोस्वामीजी मांगलिक क्षणों की बात कहते हैं और अयोध्याकाण्ड में वैराग्य की बात कहते हैं, तो सारे काण्डों में, सारे फलों के बाद अन्त में जो बात कहते हैं, वह बड़े महत्त्व की है। पूरे रामायण में उन्होंने प्रत्येक व्यक्ति को उचित भाग दिया। आपके परिवार में जो सदस्य होते हैं, बच्चों को क्या देना है, युवकों को क्या देना है, वृद्धों को क्या देना है, आप ध्यान देते हैं। भगवान श्रीराम की इस कथा के द्वारा सबको कुछ न कुछ दिया गया। लेकिन अन्त में जब आप रामायण की समाप्ति के प्रसंग को पढ़ेंगे, तो पायेंगे कि छह काण्डों में कितना कुछ नहीं बाँट दिया गया। विजय भी बाँट दिया, आपने राग की बात भी कर दी, वैराग्य की बात भी कर दी पर अन्त में रामायण का चरम उद्देश्य क्या है? तो वह पंक्ति आपके सामने है, जिसमें आप पढ़ते हैं। गोस्वामीजी कहते हैं, उनसे प्रश्न किया गया कि कितनी चौपायियों के पढ़ने से हमें लाभ हो सकता है? कितना पाठ करने से लाभ हो सकता है? तो उसकी विधियाँ आप करते होंगे। अखण्ड पाठ भी करते होंगे। नवान्ह और मासिक पारायण भी करते होंगे। उसका एक फल है ही। उसमें कामनाओं की पूर्ति है। पर अन्त में गोस्वामीजी संख्या को बहुत कम कर देते हैं। उन्होंने कहा कि बस कुछ पाँच-सात चौपाइयाँ भी बहुत हैं। बड़ी अनोखी बात है। उस चौपाई के अर्थ को लेकर भी बड़ा विवाद है, शास्त्रार्थ है और वह पंक्ति आपने अवश्य पढ़ी होगी। वह पंक्ति क्या है?

सत पंच चौपाईं मनोहर जानि जो नर उर धरै।
दारुन अबिद्या पंच जनित बिकार श्री रघुबर हरै।।

७/१२९/१५

इसमें तीन बातें कही गईं। सात-पाँच चौपाई के द्वारा भी कल्याण हो सकता है और कई नवाह्न करने पर भी कल्याण तो होगा ही, पर परम कल्याण नहीं होगा। तो वह पाँच-सात चौपाई कैसी है ! लगता है कि वाह, यह कैसे हो सकता है कि पाँच-सात चौपाई में कल्याण हो जाये? तो कहते हैं, उसके साथ जो शब्द जुड़ा हुआ है,

सत पंच चौपाईं मनोहर जानि

पहले तो समझिए, जानिए कि चौपाई में क्या कहा गया है? साधारणतया लगता है कि क्या वही है या इसके पीछे कुछ और है? वह गाथा बड़ी सांकेतिक है। कहा जाता है कि महर्षि वेदव्यास ने महाभारत की रचना करने का संकल्प किया, तो प्रश्न आया कि कोई लिखनेवाला भी तो होना चाहिए, जो उनके द्वारा बोले गये वाक्यों को लिखे। तब उनकी दृष्टि गई गणेशजी महाराज की ओर। गणेशजी महाराज से बढ़कर बुद्धिमान-ज्ञानवान कौन होगा? व्यासजी ने गणेश से अनुरोध किया कि महाभारत के रूप में जिस ग्रन्थ की रचना मैं कर रहा हूँ, आप उसको लिखने का कष्ट करेंगे? गणेशजी ने कहा, स्वीकार है। लेकिन गणेशजी ने

एक अनोखी बात कह दी। गणेशजी ने कहा कि मैं लिखूँगा, पर आपको अनवरत बोलना होगा, बीच में कहीं भी आप रूके, तो मैं लिखना बन्द कर दूँगा। अब कोई रचयिता जब लिखेगा, तो बीच में हो सकता है कि थोड़ा-बहुत चिन्तन या विचार करे। पर गणेशजी ने कहा कि आपको निरन्तर बिना रुके बोलना पड़ेगा। वह तो दो महान पुरुषों का संवाद था। व्यासजी ने बड़ी चतुराई से कार्य किया। उन्होंने कहा ठीक है, आप ठीक कहते हैं, पर मेरी भी एक शर्त है। क्या? बोले, मैं जो बोलूँगा, उसका अर्थ आप समझ लीजिएगा और आप जब समझने के लिये रुकेंगे, तो मैं भी रुक जाऊँगा। बहुत बड़ी बात थी। आपने अगर महाभारत पढ़ी हो, तो जानते होंगे। मूल ग्रन्थ को लोग पढ़ते कम हैं। पढ़ने से डरते भी अधिक हैं। उसमें बीच-बीच में कुछ ऐसे श्लोक आए हैं कि साधारण संस्कृत की दृष्टि से पढ़ने पर कुछ समझ में नहीं आता है कि इसका तात्पर्य क्या है। संस्कृत में उसको 'कूट श्लोक' की संज्ञा दी गई। मानो बीच में कूट श्लोक के द्वारा बाध्य कर देते थे गणेशजी को समझने के लिए, रूकने के लिए। उनको भी समझने के लिए रुकना पड़ता था। उतनी देर में व्यासजी आगे के लिए चिन्तन कर लेते थे। इस गाथा का एक ही तात्पर्य है। क्या? आप जो कुछ बोल रहे हैं, सुन रहे हैं, लिख रहे हैं, उसे समझ भी रहे हैं कि नहीं समझ रहे हैं। यह सूत्र केवल गणेशजी के और व्यासजी के संवाद में ही नहीं है, हम सब के जीवन में होना चाहिए, जो बहुधा नहीं होता। बिना सोचे बोलते हैं और बिना सोचे हम लिखते हैं। उसके बीच में हम समझ को नहीं आने देते हैं। वस्तुत: इसका अर्थ यह है कि पहली बात है जानना। जिसे इस चौपाई में कहा गया –

सत पंच चौपाईं मनोहर जानि जो नर उर धरै।

सब कुछ कह दिया गया। पहले सुनिए, या पढ़िए, फिर समझिए और समझने के बाद हृदय में धारण कीजिए। इसका फल क्या होगा? इसका फल यह होगा कि जो जीवन की समस्याओं का मूल कारण है, उनका समाधान जीवन में हो जायेगा और उनका नाम तो उन्होंने एक छोटे-से वाक्य में दे दिया। उन्होंने कहा –

दारुन अबिद्या पंच जनित बिकार श्री रघुबर हरै।।

दारुण अविद्या के ये जो पंचजनित विकार हैं, जिसका नाम यहाँ मानस में अलग से नहीं दिया गया है, पर हमारे पुराणग्रन्थों में पतञ्जलि योगदर्शन में अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश दिया गया है। गहराई से अगर विचार करके देखें, तो चाहे व्यक्ति के जीवन में हो, चाहे समाज के जीवन में हो, चाहे देश में हो, जब तक ये पाँचों बने हैं, तब तक समाधान अधूरा होगा, पूर्ण नहीं होगा। सूत्र यह है कि हम समझने की चेष्टा करें।

लक्ष्मणजी ने भगवान श्रीराम से निवेदन किया कि आप कृपा करके मुझे समझावें, मुझे बतावें, जिसके द्वारा मेरा शोक, मोह, भ्रम दूर हो और आपके चरणों में प्रीति हो। अब उन सूत्रों के आधार पर विचार करके देखें। मोह और अहंकार के विषय में स्वामीजी महाराज ने प्रश्न उठाया था। वह सुन्दर बात उन्होंने ही कही थी कि एक सिक्के के दो पहलू हैं मोह और अहंकार। पर एक अन्तर तो सिक्के में भी होता ही है। यद्यपि मूल्य तो पूरे सिक्के का है, पर एक ओर चित्र होता है और दूसरी ओर अंक और अक्षर होता है। यह अन्तर है। अगर यों देखा जाय कि मोह और अहंकार दो पहलू हैं, तो उसका मूल सूत्र यह है कि मूल में जो महिमामय है वह मोह है। जैसे सिक्के में किसी राजा का चित्र हो या किसी नेता का चित्र हो, किसी व्यक्ति का चित्र हो, तो अभिमान होता है। वस्तुत: अभिमान बिना मोह के हो ही नहीं सकता। अभिमान निन्दनीय है, अहंकार त्याज्य है, यह व्यक्ति जानता है, सुनता ही रहता है, यह सारे ग्रन्थों में लिखा हुआ है। पर जानने के बाद भी जब वह उस बात को भूला हुआ-सा व्यवहार करता है, तो उसके मूल में मोह ही होता है। मोह ही तो उसका कारण है। इसलिए आयुर्वेद में भी महर्षि चरक ने एक बड़ा सुन्दर शब्द चुना। उन्होंने कहा, रोग कैसे होता है? अलग-अलग रोगों के अलग-अलग कारण हैं। पर उन्होंने एक बहुत बड़ा सूत्र यह दिया कि मनुष्य के जीवन में जितने रोग आते हैं, उसके मूल में एक शब्द है, 'प्रज्ञापराध'। आपने भोजन किया। इस भोजन से यह रोग हो गया, इसको छू दिया, यह रोग हो गया। पर सबके मूल में क्या है? जैसा श्रद्धेय स्वामीजी ने कहा कि हमारे ऋषियों ने तो मूलत: गहराई से विचार कर कहा कि इन रोगों के मूल में त्रिदोष है। त्रिदोष के भी मूल में है 'प्रज्ञापराध। प्रज्ञापराध और मोह, दोनों का एक ही अर्थ है। प्रज्ञापराध माने? आपने कोई भूल की, अपराध हुआ। प्रज्ञापराध का अर्थ है कि जिसे हम जानते हैं, आपको पता है कि यह नहीं खाना चाहिए, यह नहीं करना चाहिए। ऐसे व्यवहार से रोग उत्पन्न होता है, फिर आप भी उसे ही दुहरा रहे हैं। यह भूल अगर मनुष्य में न हो, तो कोई रोग नहीं होगा। और यहाँ पर आध्यात्मिक अर्थों में कहते हैं कि **मोह**

सकल व्याधिन्ह कर मूला।

नारदजी के चरित्र में भी इसी की ओर संकेत है। उनसे बढ़कर कोई यह जाननेवाला हो सकता है क्या कि अभिमान त्याज्य है, अभिमान निन्दनीय है। वे तो स्वयं सबको परम उपदेश देनेवाले महापुरुष हैं। लेकिन एक क्षण ऐसा आता है। उसी नारद की बाद में ऐसी दुर्दशा हुई कि वे अप्सराओं को देखकर आकृष्ट नहीं हुए, किन्तु एक विश्वमोहिनी को देखकर, सब कुछ भूलकर उसको पाने के लिए व्यग्र हो गये। अन्तर क्या था? किसी ने काम से ही प्रश्न पूछा, नारदजी ने तुम पर विजय प्राप्त कर लिया क्या? काम ने इस विषय में बड़ी बुद्धिमत्ता का उत्तर दिया है रामायण में। जिस समय काम नारदजी को प्रभावित नहीं कर पाया और निराश हो गया, डरा कि नारदजी मुझे दण्ड देंगे, तब नारदजी ने कहा, मैं तुम्हें दण्ड नहीं दूँगा। इन्द्र से जाकर कह दो कि मैं स्वर्ग का सिंहासन नहीं चाहता। वे निश्चित रूप से सिंहासन पर बैठकर स्वर्ग का राज्य करें। लेकिन काम की बुद्धिमत्ता क्या है? काम ने जाकर इन्द्र से यह नहीं कहा कि कितने महान महात्मा, कितने बड़े योगी, कितने बड़े ब्रह्मचारी, उन्होंने मुझे हरा दिया। रामायण में तुलसीदासजी कहते हैं कि उसने नारदजी के सामने तो उनकी प्रशंसा की, पर वह प्रणाम किसको किया? गोस्वामीजी कहते हैं –

मुनिहि प्रसंसि नाई पद सीसू। १/२१६/६

उसने मुनिजी की प्रशंसा करके भगवान को प्रणाम किया और कहा, सत्य तो यह है कि मैं इसलिए कुछ नहीं कर पाया कि जब भगवान ही उनकी रक्षा करने के लिये वहाँ खड़े हैं, जब भगवान ही रक्षा कर रहे हैं, तो वहाँ मेरी कला क्या चलेगी। वहाँ शब्द यही आया है –

सीम कि चाँपि कलइ कोउ तासू।
बड़ रखवार रमापति जासू।। १/१२५/८

काम ने कहा कि नारदजी धन्य इसलिए थे कि उन्होंने ऐसे प्रहरी, ऐसे रक्षक का आश्रय प्राप्त कर लिया था, जो अपने भक्त और साधक की रक्षा करते हैं। लेकिन जब उन्होंने अपने को ही महत्त्वपूर्ण मान लिया, यह मान लिया कि मैंने काम को जीत लिया, तो भगवान ने मुस्कुराकर मेरी और संकेत कर दिया कि तुम अपनी कला जो दिखाना चाहो, तो दिखा दो। अब मैंने अपने को आनन्द के लिये थोड़ी देर के लिये अलग कर लिया है। नारद की दशा ऐसी क्यों हुई। इसलिए हुई कि उन्होंने रक्षक को, ईश्वर को भुला दिया। यद्यपि शब्द में नहीं भुलाया, शब्द का अभ्यास तो ज्यों का त्यों था। जब नारदजी ने भगवान विष्णु के सामने काम-विजय का उपाख्यान सुनाया, तो सुनने के बाद भगवान ने जो शब्द कहे, वे शब्द यही थे 'ब्रह्मचर्यव्रत'। सबसे पहले ब्रह्मचारी शब्द का प्रयोग किया –

ब्रह्मचरज ब्रत रत मतिधीरा।
तुम्हहि कि करइ मनोभव पीरा। १/१२८/२

महाराज, आप ब्रह्मचारी हैं, आपकी बुद्धि बड़ी स्थिर है, भला काम आपको कैसे सता सकता है। इसका जो उत्तर नारदजी ने दिया, वह तो सिद्धान्ततः सत्य भी था। नारद जानते भी हैं। उत्तर भी वही दिया, जो वास्तविक था। पर उत्तर देते हुए वास्तविकता में केवल एक मिश्रण हो गया दम्भ और कपट का और वह शब्द क्या था। जब नारदजी ने भगवान की प्रशंसा की, तो नारदजी कह सकते थे कि मैं बड़ा साधनसम्पन्न हूँ, योगी हूँ। न, न, उन्होंने कहा –

कृपा तुम्हारि सकल भगवाना। १/१२८/३

प्रभु, सब आपकी ही तो कृपा है। यह तो सिद्धान्त है। नारदजी यही सिद्धान्त कहते आए हैं। फिर नारदजी में समस्या क्या है? बोले पहले कहते थे अनुभव के आधार पर और आज एक व्यावहारिक अर्थों में कह रहे हैं। नारद को जब यह लगा कि भगवान मेरी प्रशंसा कर रहे है, तो मुझे भी बदले में प्रशंसा करनी चाहिए। संसार का व्यवहार यही है। किसी की आपने प्रशंसा की, तो दो चार प्रशंसा वह आपकी भी कर देगा। तो नारदजी ने उस समय जो वाक्य कहा, वह सचमुच उस समय यह मानकर नहीं कहा कि यह भगवान की कृपा से हुआ। क्या शब्द है?

नारद कहेउ सहित अभिमाना।
कृपा तुम्हारि सकल भगवाना। १/१२८/३

अभिमान सहित कहा, महाराज सब आपकी कृपा है। वैसे तो मन में सोच रहे हैं, क्या कृपा है? क्षीर-सागर में सो रहे हैं, लक्ष्मी चरणसेवा कर रही हैं। लेकिन ऊपर से वही, उन्होंने मानो कहा, आप ब्रह्मचारी हैं, तो उन्होंने कहा, आपकी कृपा ही सब है। मानो यह जो संकेत है, वह यह बताने के लिए है कि साधारण व्यक्ति जो भाषा बोलता है, उस भाषा में तो उसका अहंकार सीधे बोलता है। पर साधक जब कभी ऐसी भूल कर जाता है, तब उनकी भाषा में वह वाक्य निकलता है, जो वस्तुतः उसकी अनुभूति से पृथक् होकर, केवल एक प्रदर्शन का संकेत मात्र रह जाता है। यह बड़ा सूक्ष्म संकेत है। यही संकेत आपको सर्वत्र मिलेगा। **(क्रमशः)**

मन्दिर शताब्दी विशेष

भारतीय वास्तुकला में मन्दिरों का महत्त्व

डॉ. अर्पिता चटर्जी

एसोसियेट प्रोफेसर, प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग,

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

(इस वर्ष २०२४ में स्वामी विवेकानन्द और स्वामी ब्रह्मानन्द जी महाराज की बेलूड़ मठ स्थित मन्दिर स्थापना की शताब्दी के उपलक्ष्य में मन्दिरों से सम्बन्धित आलेख-शृंखला प्रकाशित की जा रही है।)

प्रत्येक देश एवं जाति की कला एवं वास्तुकृतियों में उस विशिष्ट जाति एवं देश की विशेषताओं की छाप रहती है। चिरंतन काल से भारत में दैवी शक्ति की उपासना में

कंदरिया महादेव मन्दिर, खजुराहो

ही जीवन की सार्थकता समझी गयी। ऐसे में भारतीय कला एवं वस्तु की सर्वप्रमुख विशेषता उसकी अध्यात्म-निष्ठा रही है। भारतीय वास्तु का जन्म यज्ञ-वेदी से प्रारम्भ होते हुए मन्दिरों के उन्नत शिखर में सम्पन्न हुआ। यदि मन्दिर वास्तु को भारतीय वास्तु-कला का मुकुट-मणि कहा जाए, तो यह अतिशयोक्ति नहीं होगी। यह जानना आवश्यक होगा कि मन्दिर स्थापत्य का विकास भारत में किसी विशेष धर्म से सम्बन्धित नहीं है, वरन् आकृति-पूजा की भावना से जुड़ी है। मनुष्य ने देवता अथवा महापुरुषों की उपासना हेतु मूर्ति या प्रतीक चिन्ह बनाए तथा उन्हें किसी विशिष्ट स्थान पर स्थापित किया। ये पवित्र भवन ही मन्दिर कहलाए, जो समय के साथ विविध रूपों एवं आकारों में विकसित होते गये। ऐतिहासिक दृष्टि से भारत में मन्दिर वास्तु का उद्भव किस काल-विशेष में हुआ, यह कहना कठिन है। बहुसंख्यक विद्वानों का मानना है कि वैदिक काल में मूर्ति पूजा का विधान नहीं था, अत: उन्हें स्थापित करने के लिए किसी वास्तु संरचना की आवश्यकता ही नहीं होती थी। परन्तु ब्राह्मण एवं सूत्र ग्रन्थों में कुछ ऐसे स्पष्ट संकेत मिलते हैं, जिनसे धार्मिक मूर्तियों के उस काल में बनने तथा पूजे जाने की कल्पना की जा सकती है। साथ ही उस युग में यज्ञ-वेदी-निर्माण की भी एक समृद्ध परम्परा थी। सम्भावना व्यक्त की जा सकती है कि इन्हीं यज्ञशालाओं के स्वरूप से आगे मन्दिर वास्तु का विकास हुआ। शतपथ ब्राह्मण में यज्ञशाला को चारों ओर से ढकने का विधान दिया गया एवं तैत्तिरीय संहिता में इस प्रकार के स्वरूप को 'गर्भगृह' की संज्ञा दी गई। सर्वविदित है कि मन्दिर वास्तु में जहाँ देव-विग्रह या प्रतीक रखा जाता है, उस कक्ष को गर्भ-गृह ही कहते हैं। प्रासाद, देवायतन, देवगृह, देवस्थान जैसे अनेक शब्द ब्राह्मण, सूत्र, महाकाव्यों तथा कौटिल्य कृत अर्थशास्त्र जैसे ग्रन्थों में प्राप्त हुए हैं, जो निश्चय ही इन ग्रन्थों के रचनाकाल तक देवताओं के निमित्त एक विशिष्ट संरचना के अस्तित्व की ओर संकेत करते हैं। परन्तु इसका स्वरूप कैसा था, यह प्रश्न तिमिराच्छन्न ही है। क्योंकि अब तक उतने प्राचीन मन्दिर संरचना का कोई मूर्त उदाहरण प्राप्त नहीं हुआ है। इन प्राचीन मन्दिरों के स्वरूप को

बृहदीश्वर मन्दिर, तंजौर, तमिलनाडु

लेकर कई कल्पनाएँ की जा सकती हैं। प्रथम : चबूतरानुमा संरचना, जिस पर मूर्ति या प्रतीक स्थापित की जाती रही होगी। द्वितीय : छत्रयुक्त चूबतरा, जिस पर मूर्ति एवं प्रतीक

स्थापित की जाती रही होगी। तृतीय : उस स्थान को पत्थर की पाटियों से ढक दिया जाता रहा होगा। चतुर्थ : स्तम्भयुक्त मंडप के मध्य देवविग्रह या प्रतीकयुक्त चबूतरे को स्थापित किया जाता रहा होगा। पंचम : पूर्ण विकसित गृह के अन्दर देवविग्रह या प्रतीक चिन्ह का आसन स्थापित किया जाता रहा होगा। निश्चय ही उपर्युक्त में अन्तिम स्वरूप विकास का परिणाम रहा होगा, जो आधुनिक मन्दिरों के समतुल्य है। यद्यपि पूर्वकाल में कुछ ऐसी वास्तु संरचनाओं के पुरा साक्ष्य मिले हैं, जिन्हें कलाविद् मन्दिर वास्तु से समीकृत करते हैं। परन्तु तराशे गए शिलाखण्डों अथवा ईटों से निर्मित चिनाईकृत साबूत भवन जिन्हें निर्विवादित रूप से मन्दिर कहा जा सकता है, प्रथमत: गुप्तकाल से ही मिलने लगते हैं। इसके पहले भारत में पहाड़ों को काटकर बौद्ध विहार एवं चैत्यगृह (पूजा-स्थल) निर्माण की एक समृद्ध परम्परा थी। इन शैल कृत भवन संरचनाओं के निर्माण की परिपाटी आगे के युग में भी बनी रही, जिसके कुछ उत्कृष्ट उदाहरण ब्राह्मण परम्परा के देवगृह से सम्बन्धित भी हैं।

श्रीजगन्नाथ मन्दिर, पुरी

भारतीय परम्परा में मन्दिर की कल्पना वास्तुपुरुष के रूप में की गयी। मन्दिर के गर्भ गृह में स्थापित मूर्ति उस वास्तु पुरुष के शरीर में प्राण का प्रतीक है। उस वास्तु पुरुष के शरीर के विभिन्न अंगों के समान ही मन्दिरों के अंग-प्रत्यंगों के नाम भी मिलते हैं। जैसे मन्दिर के सबसे निचले भाग को अधिष्ठान या पाद भाग कहा जाता है। इसके ऊपर के भित्ति भाग (लम्बवत् दिवारों) को जंघा, जंघा के ऊपरी भाग को शिखर तथा सबसे ऊपरी भाग को मस्तक की संज्ञा दी जाती है। जिस तरह मस्तक ग्रीवा भाग के माध्यम से धड़ से संलग्न होता है, उसी प्रकार शिखर एवं मस्तक को संलग्न करने के लिए ग्रीवा भाग की कल्पना मन्दिरों में भी की गयी। मस्तक भाग के ऊपर मन्दिर जिस देवशक्ति को समर्पित होता है, उसके आयुध अथवा प्रतीक चिन्ह स्थापित करने की परम्परा रही है। ऐतिहासिक दृष्टि से प्राचीनतम समझे जानेवाले मन्दिरों के दो हिस्से ही होते थे। प्रथम भाग गर्भगृह जहाँ देव-विग्रह या प्रतीक स्थापित किये जाते थे तथा द्वितीय भाग मण्डप जहाँ, भक्तजन उपस्थित हुआ करते थे। परन्तु समय के साथ-साथ मन्दिरों के कार्य-क्षेत्र में वृद्धि होती रही एवं उसी अनुपात में मन्दिर-वास्तु के अंग-प्रत्यंगों में भी वृद्धि हुई। मन्दिरों में भोग निवेदन हेतु अलग मण्डप 'भोग मण्डप' रूप में विकसित हुआ, तो वहीं नृत्य, गायन आदि प्रस्तुति हेतु निर्धारित स्थल 'नाट्य मण्डप' के रूप में बनाए जाने लगे। प्रारम्भिक मंदिर जहाँ सादे एवं कम अलंकृत बने, वहीं परवर्ती काल में ये समृद्ध मूर्तिकला के प्रदर्शन के माध्यम बन गए। भारत में मन्दिर वास्तु के स्वरूप-निर्धारण के लिए अनेक शास्त्र भी रचे गए, जिनमें मानसार तथा समरांगण सूत्रधार सबसे महत्त्वपूर्ण हैं। इन ग्रंथों में विविध अंग-प्रत्यंगों के साथ ही मन्दिरों के किन हिस्सों पर कैसे शिल्पांकनों को स्थान दिया जाये, ये दिशा-निर्देश भी मिलते हैं। भारत में नवीं शताब्दी ईस्वी से बारहवीं-तेरहवीं

सूर्य मन्दिर व संलग्न सूर्यकुण्ड, मोढ़ेरा

शताब्दी ईस्वीं के कालखण्ड में अनेक प्रसिद्ध मन्दिरों का निर्माण हुआ, जिन्हें शास्त्रीय मानकों के अनुरूप ही बनाया गया। मन्दिर वास्तु संरचना की अनेक शैलियाँ भी यहाँ विकसित हुईं, जिनमें नागर, द्राविड़ एवं बेसर शैली प्रमुख हैं। उपर्युक्त के अन्तर्गत भी विविध उपशैलियों जैसे मरु-गुर्जर, भूमिजा आदि का विकास हुआ। नागर शैली के मन्दिरों में खजुराहो के मन्दिरों का महत्त्वपूर्ण स्थान है, जो अपने उन्नत वास्तु-विधान एवं मूर्तिकला हेतु विश्वविख्यात हैं। कन्दरिया महादेव जैसे यहाँ के विकसित मन्दिरों में अर्द्ध-मण्डप, मण्डप, महामण्डप, अन्तराल एवं गर्भगृह की योजना दिखती है। इन मन्दिरों के अंग-प्रत्यंगों में मूर्तिकला के उत्कृष्ट उदाहरण देखे जा सकते हैं। इन मूर्तियों में देवी-देवताओं, पौराणिक आख्यान, सुर-सुन्दरियों की विभिन्न आकृतियों के साथ ही कामप्रधान विषयों का प्रदर्शन भी हुआ है। अपने अनुपम वास्तु विन्यास एवं मूर्तिकला की दृष्टि से ओडिशा के मन्दिरों का प्रमुख स्थान है। यहाँ मन्दिर-निर्माण की पृथक शैली ही विकसित हुई, जिसे सुविधा के लिये कलिंग शैली नाम दिया गया। विश्वप्रसिद्ध पुरी का जगन्नाथ मन्दिर इसी शैली में निर्मित है। इस शैली के मन्दिरों में गर्भगृह, जिसे रेखीय शिखर के कारण यहाँ रेखा देउल (मन्दिर) कहा जाता है, इसके अतिरिक्त जगमोहन या मण्डप की योजना होती है। यह मण्डप पीढ़ा प्रकार के शिखर से युक्त होने से पीढ़ा देउल कहलाता है। पीढ़ा देउल के अतिरिक्त भी इस प्रकार के मन्दिरों में इसी तरह के २ अतिरिक्त मण्डपों की योजना भी दिखती है, जिन्हें नाट्यमंडप एवं भोग-मण्डप की संज्ञा दी जाती है। कलिंग शैली के कई मन्दिर प्राकार के अन्दर बनाए गए हैं, जिनमें मूल मन्दिर के अतिरिक्त अनेक लघु देवायतनों की योजनायें भी दिखती हैं। दक्षिण भारत में विकसित द्राविड़ शैली के मन्दिरों में तंजौर के बृहदेश्वर मन्दिर का अपना अलग स्थान है। शिव को समर्पित इस मन्दिर को एक विशाल प्रांगण में स्थापित किया गया, जो एक प्राकार से घिरा है, जिसमें प्रवेश के लिए मुख्य देवालय की अनुकृति स्वरूप प्रवेशद्वार है, जिसे वास्तु शब्दावली में 'गोपुरम्' कहा जाता है, की व्यवस्था है। इस प्रांगण के अन्दर चारों ओर स्तंभयुक्त छज्जे निर्मित हैं। मूल मन्दिर में गर्भगृह के अतिरिक्त गूढ़ मण्डप (चारों ओर से ढका मण्डप), स्तम्भयुक्त अर्द्ध-मण्डप एवं नन्दी मण्डप एक सीध में बना है। प्रदक्षिणा पथ युक्त इसके गर्भगृह का शिखर तेरह तलीय है, जिसके ऊपर एक विशाल छत्राकार प्रस्तर खण्ड स्थापित है, इसे वास्तु शब्दावली में 'स्तूपि' की संज्ञा दी जाती है। द्रविड़ शैली में ही निर्मित एलोरा का कैलाश मन्दिर प्राचीन काल से चली आ रही शैलकृत वास्तु संरचना का एक अद्भुत उदाहरण है, जिसे एक ही पहाड़ी को ऊपर से नीचे काटकर निर्मित किया गया है।

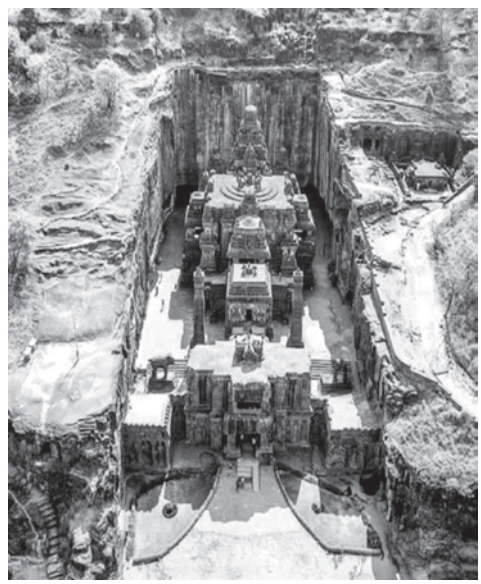

कैलाश मन्दिर, एलोरा

उपर्युक्त सभी मन्दिर वास्तुकला एवं मूर्ति की कसौटी हैं। परन्तु भारतीय मन्दिर मात्र अपने कलात्मक सौन्दर्य के लिये ही नहीं, वरन् सांस्कृतिक महत्त्व के लिए भी उल्लेखनीय हैं। ये मन्दिर प्राचीन एवं मध्यकाल के विद्यालयों एवं महाविद्यालयों का भी काम किया करते थे। जनता अपने धार्मिक जिज्ञासा के समाधान हेतु यहाँ आती थी। मन्दिरों के पुजारी शास्त्रज्ञ, धर्मनिष्ठ एवं ज्योतिषी भी होते थे। अत: बहुसंख्यक जिज्ञासु छात्र इन विद्वान पुरोहितों के अन्तेवासी बनकर वेद, पुराण, शास्त्र एवं काव्य का अध्ययन करते थे। मन्दिरों के संरक्षण हेतु समाज के सम्पन्न वर्ग द्वारा दिए गए भू-अनुदानों से यहाँ सम्पन्न होनेवाली शैक्षणिक गतिविधियों की व्यवस्था के निर्देश अनेक ऐतिहासिक स्त्रोतों से प्राप्त होते हैं। आज भी मन्दिरों में पुराणपारायण, कथावार्ता, प्रवचन एवं रामायण पाठादि की परम्परा विद्यमान है। अत: भारतीय शास्त्रीय परम्परा को अक्षुण्ण रखने में भी मन्दिरों की विशेष भूमिका रही है। पौराणिक धार्मिक परम्परा में संगीत, नृत्यादि देवाराधना के साधन बने, फलत: इन मन्दिरों में नृत्य, भजन, संकीर्तन नियमित रूप से आयोजित होने लगे। ओडिशी जैसे शास्त्रीय

नृत्य का उद्‌भव ही मन्दिरों में हुआ। इस प्रकार भारतीय रंग-कलाओं के विकास में भी मन्दिरों ने महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। मन्दिरों से सम्बन्धित उत्सवों में न केवल नगर वरन् आस-पास के जनपदों से लोग सहभागी होते रहे हैं। अत: ये मन्दिर भारतीय जनमानस के हर्षोल्लास के केन्द्र के रूप में भी विकसित हुए। प्राचीन काल से ही भारतीय जीवन-दर्शन में प्रकृति संरक्षण का भाव निहित रहा है। हमारे शास्त्रों में बस्ती के बाह्य एवं अभ्यन्तर प्रदेशों में अकृत्रिम एवं कृत्रिम प्रकार के उद्यानों को विकसित करने पर विशेष जोर दिया गया। ये मन्दिर उद्यान व्यवस्था के आश्रय-स्थल के रूप में भी देखे जा सकते हैं। मन्दिरों में देवाराधना के लिए पुष्पों की अनिर्वायता होती है, अत: पुष्पोद्यान देवायतनों के अनिवार्य अंग बन गए। प्राचीन एवं मध्यकालीन भारत में आज की भाँति जल-कल सी समुचित व्यवस्था न थी, फलत: वापी, कूप, तालाब एवं जलाशयों का निर्माण किसी भी बस्ती के लिए अनिवार्य था। राज्य की ओर से सर्वसाधारण के लिए जलाशयों का निर्माण तो होता ही था, वैयक्तिक रूप से भी इस प्रकार के निर्माण हेतु धार्मिक प्रोत्साहन दिए जाते थे। मन्दिर प्रांगण के अन्दर कूप, तालाब व वापी के निर्माण की सुसमृद्ध परम्परा भारतीय जनमानस के इसी मनोवृत्ति का परिणाम था, जिससे आस-पास के लोग लाभान्वित होते रहे। प्राचीन काल से बड़े-बड़े मन्दिरों में सत्र संचालित होते थे, जहाँ प्रतिदिन अनेक बुभुक्षितों की क्षुधा शान्त होती थी। आधुनिक युग में भी यह परम्परा सतत प्रवाहमान है। प्राचीनकाल से अब तक मन्दिरों के आसपास अनेक आर्थिक गतिविधियों का संचालन होता रहा है। मन्दिर-प्रांगण अथवा उसके बाहर की दुकानों से श्रद्धालु पूजन-सामग्री तथा अन्यान्य वस्तुओं का क्रय-विक्रय करते हैं, जिससे एक बड़े जनसमूह के आजीविका की पूर्ति होती है। आज भी अयोध्या, काशी व उज्जैन जैसे नगरों की अर्थव्यवस्था में वहाँ के मन्दिरों के योगदान का आकलन सहज ही लगाया जा सकता है।

निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि मन्दिर, भारतीय जीवन शैली का अभिन्न अंग है, जिसमें अध्यात्म एवं लौकिक भाव का अद्‌भुत सम्मिश्रण दिखता है। भारत की मानवता दैवी आराधना से विकसित अध्यात्म, सनातन से ही भारतीय संस्कृति की सर्वप्रमुख विशेषता रही है। मन्दिर भारतीय अध्यात्म-चिन्तन की मूर्त अभिव्यक्ति है। परन्तु इसमें जीवन के लौकिक पक्षों को भी समाहित किया गया है। देवी-देवताओं के साथ ही मन्दिरों की मूर्ति-कला में साधारण मनुष्य, पशु-पक्षी तथा वानस्पतिक, सभी का प्रतिनिधित्व हुआ है। ध्यातव्य है कि भारत के अनेक मन्दिरों में कामप्रधान शिल्पाकृतियों को भी स्थान दिया गया, जो काम के विकृत स्वरूप को भी अभिव्यक्त करती हैं। वास्तव में भारतीय जीवन-दर्शन में चार पुरुषार्थों (धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष) की अवधारणा लोकप्रिय थी। इन चार पुरुषार्थों में काम भी एक है, जिसकी सहज एवं स्वाभाविक अभिव्यक्ति धर्मसम्मत मानी गयी है, लेकिन इस प्रवृत्ति के अनियन्त्रित होने से मानव पशुवत् हो सकता है। मन्दिरों में प्रदर्शित ऐसे शिल्पांकन सम्भवत: इसी भाव की अभिव्यक्ति हैं। साथ ही ऐसे शिल्पांकनों का एक अभिप्राय यह भी हो सकता है कि वे सांसारिक प्रवृत्तियाँ मनुष्य को बाँधे रखती हैं और इस पर विजय प्राप्त कर ही वह आध्यात्मिक जगत की ऊँचाइयों तक पहुँच सकता है। ध्यातव्य है कि कल कोटि की मूर्तियाँ मन्दिरों के बाह्य हिस्सों में ही बनी हैं। जैसे-जैसे इन भागों का अतिक्रमण कर भक्त गर्भगृह में आराध्य के निकट पहुँचता है, वह अन्तिम पुरुषार्थ मोक्ष की ओर उन्मुख होता है। इस प्रकार सभी लौकिक निहितार्थों के बावजूद मन्दिर भारतीय अध्यात्म-साधना के अन्तिम लक्ष्य मोक्षप्राप्ति का माध्यम ही रहा है। ○○○

पृष्ठ ३९९ का शेष भाग

शंका – वैनाशिको ज्ञेय-अभावे ज्ञान-अभावं कल्पयति एव इति चेत्।

भाष्यार्थ – विनाशवादी (शून्यवादी) यदि ज्ञेय (विषय) के अभाव में ज्ञान का भी अभाव मानता हो, तो!

समाधान – येन तद्-अभावं कल्पयेत्-तस्य अभाव: केन कल्प्यते इति वक्तव्यं वैनाशिकेन, तद्-अभावस्य अपि ज्ञेयत्वात् ज्ञान-अभावे तद्-अनुपपत्ते:।

भाष्यार्थ – शून्यवादी को यह बताना होगा कि जिस (ज्ञान) के द्वारा वह चैतन्य के अभाव की कल्पना करता है, उस (ज्ञान) के अभाव की वह भला कैसे कल्पना करेगा? ज्ञान का अभाव भी तो ज्ञेय है; और उसे जानने के लिये भी ज्ञान चाहिये, अर्थात् ज्ञान नहीं होगा, तो (उसका विषय) ज्ञेय भी नहीं हो सकता। **(क्रमश:)**

नशे के सेवन से बचें : युवाओं के लिए एक मार्गदर्शिका

स्वामी गुणदानन्द, रामकृष्ण मठ, नागपुर

नशीले पदार्थों का दुरुपयोग विश्वभर में गम्भीर चिन्ता का विषय बना है, विशेषकर युवाओं में। युवाओं को नशीले पदार्थों का सेवन आकर्षक लग सकता है, लेकिन इसके परिणाम विनाशकारी हो सकते हैं। इस लेख में, हम नशीले पदार्थों के दुरुपयोग से उत्पन्न होने वाले हानिकारक प्रभाव के बारे में जानकारी देंगे और इस विनाशकारी पथ से दूर रहने के लिए युवाओं को मार्गदर्शन प्रदान करेंगे।

नशीले पदार्थ के दुरुपयोग को समझना

नशीली दवाओं के दुरुपयोग से तात्पर्य है गैर-चिकित्सीय उद्देश्यों के लिए हानिकारक अर्थात् नशीले पदार्थों का अत्यधिक उपयोग। इसमें हेरोइन और कोकीन जैसे गैरकानूनी पदार्थ, साथ ही अनियंत्रित तरीके से शराब पीना और डॉक्टर द्वारा लिखी दवाइयों का अनुचित उपयोग शामिल है। नशा मस्तिष्क के रासायनिक गठन को बदल सकता है, जिससे लत, शारीरिक, मानसिक स्वास्थ्य और सामाजिक समस्याएँ उत्पन्न हो सकती हैं।

किशोरावस्था में युवा नशीली दवाओं की लत के जाल में फँस जाते हैं। साथियों का दबाव और नशे के प्रति आकर्षण उन्हें नशीली दवाओं के प्रयोग करने के लिए प्रेरित करता है और इससे पहले कि उन्हें इसके हानिकारक प्रभाव का पता चलता है, वे इसकी लत में पड़ जाते हैं और नियंत्रण से बाहर हो जाते हैं। नशीली दवाइयाँ उनके जीवन को निगलने लगती हैं, जिससे उनके रिश्तों, स्वास्थ्य और उनके भविष्य की सम्भावनाओं पर असर पड़ता है।

परिवार और दोस्तों के हस्तक्षेप करने पर भी वे अपनी लत को नहीं छोड़ पाते हैं। वे यह स्वीकार करने से इन्कार कर देते हैं कि उन्हें कोई समस्या है और जो भी उनकी सहायता करने की कोशिश करते हैं, उससे दूर रहते हैं। उनका जीवन निराशा और हताशा की गर्त में चला जाता है।

नशीले पदार्थों के दुरुपयोग से हानिकराक प्रभाव

नशीले पदार्थ अथवा नशीली दवाओं के दुरुपयोग से किसी व्यक्ति के जीवन पर दूरगामी परिणाम हो सकते हैं। शारीरिक रूप से, इससे अंग क्षति, खराब संज्ञानात्मक क्षमता और एचआईवी/एड्स जैसे संक्रामक रोगों का खतरा बढ़ सकता है। यह मानसिक रूप से मनोबल में कमी, मूड में बदलाव, चिन्ता, डिप्रेशन (अवसाद) और साइकोसिस (मनोविकृति) का कारण बन सकता है। सामाजिक रूप से यह पारिवारिक रिश्तों में तनाव पैदा कर सकता है, कानूनी परेशानियाँ पैदा कर सकता है और शैक्षिक तथा आजीविका करियर के अवसरों में बाधा उत्पन्न कर सकता है।

युवाओं के लिए मार्गदर्शन

१. शिक्षा द्वारा अन्तर्निहित समस्याओं पर विचार करना : कहते हैं Knowledge is power युवाओं को शिक्षा के द्वारा स्वयं को जागरूक करने की आवश्यकता है। युवा नशे के हानिकारक प्रभाव के बारें में ज्ञान प्राप्त करें और स्वयं को शिक्षित और जागरूक करें। नशीली दवाओं एवं पदार्थों के हानिकारक प्रभाव के बारे में जागरूक रहें, जिसमें शरीर और मस्तिष्क पर उनके प्रभाव, साथ ही नशीली दवाओं के दुरुपयोग के कानूनी परिणाम भी शामिल हैं। सोच-समझकर निर्णय लेने के लिए स्वयं को इनके दुष्परिणाम और उनको दूर करने की जानकारी से सुसज्जित करें। उचित निर्णय लेने के लिए आवश्यक सूचना संग्रहित करें।

युवाओं के लिए नशे की लत से उबरने की राह आसान नहीं होती। जब युवा नशा करने की चरम सीमा पर पहुँच जाते हैं, वे स्वयं को अकेला, बेघर और पूरी तरह टूटा हुआ पाते हैं। निराशा के उस क्षण में उन्हें सहायता की आवश्यकता अनुभव होती है। कहीं और जगह न मिलने पर, वे सहायता के लिए एक पुनर्वास

(Rehabilitation centre) केन्द्र में पहुँच जाते हैं। उन्हें वापसी के विनिवर्तन लक्षण (withdrawal symptoms), नशे करने की लालसा और प्रलोभन का सामना करना पड़ता है। लेकिन परामर्शदाताओं, चिकित्सकों और नशे की लत से उबरने वाले साथी के सहयोग से, नशे के आदी युवा अपने जीवन का पुनर्विकास कर सकते हैं। थेरेपी और परामर्श के माध्यम से उन्हें अन्तर्निहित समस्याओं पर विचार करना होगा, जिनके कारण वे सबसे पहले नशीली दवाओं की ओर मुड़ जाते हैं। उन्हें तनाव, चिन्ता और साथियों के दबाव से निपटने के लिए उचित तरीके सीखने होंगे। युवा अपने परिवार और उन दोस्तों से भी दोबारा जुड़ने का प्रयास करें, जो उनके सबसे बुरे दिनों में उनके साथ खड़े रहे।

२. साथियों का दबाव : कई युवा अपने करियर, परीक्षा-परिणाम, लक्ष्य में सफलता और क्षमता की तुलना अपने साथियों से करते हैं, वे प्रतियोगिता की होड़ में अपने-आप में दबाव का अनुभव करते हैं। साथियों से तुलना करने पर वे उनसे अधिक क्षमता अर्जित करने के दबाव में अल्पकालिक हथकण्डों को अपनाने लगते हैं। इस दबाव में आकर युवा नशीली दवाओं का सेवन करने लगते हैं। कई बार उनके मित्र इस दबाव को दूर करने के लिए सहायता के नाम पर नशा करने की सलाह देते हैं। जब कोई आपको नशे की पेशकश करे, तो आप उनका विरोध करें। अपने आपको उन सही और सकारात्मक विचारों से ओतप्रोत करें, जो नशा-मुक्त रहने के आपके निर्णय में सहायता करते हैं। सच्चे दोस्त आपकी पसन्द का सम्मान करेंगे और स्वास्थ्यवर्धक आचरण का समर्थन करते हुए आपको प्रोत्साहित करेंगे।

३. डटकर सामना करना : तनाव, चिन्ता और साथियों के दबाव से निपटने के लिए उचित उपाय खोजें। ऐसी गतिविधियों में संलग्न रहें, जो आपको प्रसन्नता और शान्ति प्रदान करती हैं। इनमें रुचिकर कार्य, जैसे खेल, मनोरंजन, कला, संगीत, किसी विषय का अध्ययन या उससे सम्बन्धित अन्य चीजें शामिल हैं। इन गतिविधियों से जीवन में एक उद्देश्य और नई दिशा मिलती है। मित्र, परिवार या परामर्शदाताओं का एक सहायता-नेटवर्क बनाएँ, जिनसे आप जरूरत पड़ने पर यथासमय सम्पर्क कर सकें। नशे की लत से जूझ रहे लोगों को सामुदायिक आउटरीच कार्यक्रमों और सहायता समूहों में सक्रिय रूप से भाग लेना चाहिए। इनकी सहायता से ड्रग एडिक्टस (नशे के आदी) अपनी लत से उबर सकते हैं। समय के साथ वे दूसरों के लिए आशा और प्रेरणा की किरण बन सकते हैं। उनका मन वापस अध्ययन की ओर मुड़ सकता है। वे काउंसलिंग में अपना करियर बना सकते हैं। वे दूसरों को मार्गदर्शन और आश्वासन देने के लिए अपने अनुभवों का उपयोग कर सकते हैं। वे सक्रिय रूप से दूसरों को नशे की जंजीरों से मुक्त करने में योगदान कर सकते हैं। सुधार सम्भव है, चाहे स्थिति कितनी भी निराशाजनक क्यों न हो। दृढ़ संकल्प और जीवन में परिवर्तन लाने की इच्छा के साथ कोई भी नशे की लत पर नियंत्रण पा सकता है और उद्देश्यपूर्ण जीवन जी सकता है।

४. निश्चयात्मकता : आत्मविश्वास और दृढ़ता से नशीली दवाओं को न कहना सीखें। इन्हें स्वीकार न करने के कौशल का अभ्यास करें और जब आपका कोई परिचित नशीली दवाओं का प्रस्ताव आपके सामने रखे, तो विपरीत प्रतिक्रिया करें अर्थात् प्रस्ताव को नकार दें। याद रखें कि दूसरों के साथ तालमेल बिठाने के बजाय अपने स्वास्थ्य को प्राथमिकता देना ठीक है।

५. लक्ष्य-निर्धारण : अपने लिए लक्ष्य निर्धारित करें और उसे प्राप्त करने की दिशा में कार्य करें। चाहे वह शैक्षणिक सफलता हो, करियर बनाना हो या व्यक्तिगत विकास हो, अपने लक्ष्य पर ध्यान केन्द्रित रखने से आपको नशीली दवाओं के प्रलोभन का विरोध करने में सहायता मिल सकती है।

६. सहायता लें : यदि आप या आपका कोई परिचित नशीली दवाओं के दुरुपयोग से जूझ रहा है, तो सहायता लेने से न डरें। सहायता और मार्गदर्शन के लिए विश्वसनीय वयस्कों, स्कूल परामर्शदाताओं या डॉक्टर से परामर्श के लिए सम्पर्क करें। गोपनीय सहायता के लिए हाटलाइन और सहायता समूह भी उपलब्ध हैं।

निष्कर्ष : नशीली दवाओं का दुरुपयोग एक गम्भीर विषय है, जो व्यक्तियों, परिवारों और समुदायों को प्रभावित करता है। जागरूक रहकर, समुत्थानित रहकर और दूसरों से सहायता माँगकर, युवा नशे की लत से मुक्ति पा सकते हैं और नशीली दवाओं के दुरुपयोग की हानि से बच सकते हैं। याद रखें, आपका भविष्य इतना उज्ज्वल है कि नशीली दवाइयाँ इसे धूमिल नहीं कर सकतीं। नशीले पदार्थों को न कहें और समृद्धि, प्रसन्नता से परिपूर्ण जीवन को अपनाएँ। ○○○

शिक्षक दिवस विशेष

गुरुकुल परम्परा का पुनर्जागरण

डॉ. राधिका चन्द्राकर

सहा. प्रा. रावतपुरा सरकार विश्वविद्यालय, रायपुर

शिक्षा को किसी भी देश का मेरुदण्ड कहा जा सकता है। इसी आधारशिला पर देश की उन्नति और अवनति निर्भर करती है। भावी पीढ़ी के निर्माण में शिक्षा ही एक साँचे का कार्य करती है। शिक्षा सदा से ही आवश्यक व महत्त्वपूर्ण मानी जाती रही है। आज के दौर में शिक्षा जीवन का एक ऐसा अभिन्न अंग है, जिसकी उपेक्षा नहीं जा सकती। वर्तमान में शिक्षा-प्रणाली के उद्देश्यों को तभी प्राप्त किया जा सकेगा, जब शिक्षा के साथ विद्या का समावेश हो।

आजकल स्कूल, कॉलेजों, विश्वविद्यालयों में केवल भौतिक जानकारियों जैसे – गणित, भूगोल, इतिहास, भाषा विज्ञान, तकनीकी, औद्योगिक, रसायन आदि विषयों की ही शिक्षा दी जाती है। इन विषयों तक ही प्राध्यापक अपने कर्तव्य की इति समझ लेते हैं। परीक्षक प्रश्नपत्रों के लिखित उत्तरपुस्तिकाओं द्वारा यह जाँच लेते हैं कि छात्र ने इन विषयों को किस सीमा तक याद किया है, इसी आधार पर उत्तीर्ण छात्रों को सम्बन्धित पाठ्यक्रमों की उपाधि दे दी जाती है। यह उपाधि यह प्रकट करती है कि छात्र ने अमुक विषयों में अमुक श्रेणी प्राप्त कर लिया है।

प्राचीन काल में इस प्रकार की भौतिक शिक्षा प्रणाली नहीं थी। वरन् उस समय गुरु का कार्य शिष्य को भौतिक विषयों की शिक्षा देने के साथ-साथ उनके व्यक्तित्व, जीवन के गुण, कर्म और स्वभाव का समुचित विकास करना भी था। इसीलिए गुरु का महत्त्व माता-पिता के समान समझा जाता था। पहला जन्म माता-पिता द्वारा और दूसरा जन्म गुरु द्वारा माना जाता था, तब द्विज (द्विजन्मा) बनते थे। गुरु शिक्षा के साथ-साथ विद्या भी प्रदान करते थे। विद्यार्थी के गुण, कर्म, स्वभाव और योग्यता के अनुकूल गुरुकुल में परीक्षाएँ होती थीं और विद्यार्थी उसी के आधार पर उपाधि प्राप्त करता था।

उपाधियाँ सामाजिक जीवन में प्रवेश पाने के लिये आवश्यक समझी जाती थीं। आज भौतिक शिक्षा का प्रचलन है, तब भी आज की डिग्रियाँ पेट भर रोटी दिलाने में समर्थ नहीं हो पा रही हैं और अपना भौतिक महत्त्व भी खो रही हैं। आज की स्कूल शिक्षा आवश्यक है, पर पर्याप्त नहीं है। आज की शिक्षा को जब उस वैदिक युग की शिक्षा से मिलाते हैं, तो इसी परिणाम पर दृष्टि जाती है कि वर्तमान शिक्षा अधूरी है।

माना कि उस वैदिक युग में और इस आधुनिक युग में अन्तर है। परिस्थितियाँ बदली हैं। न वैसे विद्यार्थी हैं और न शिक्षा। किन्तु जो भी प्राप्त है, उसमें भी शिक्षा का स्तर ऊँचा उठाकर शिक्षा का आदर्श एवं लक्ष्य प्राप्त किया जा सकता है। वस्तुत: शिक्षा का उद्देश्य यह होना चाहिए कि अध्ययन पूर्ण करने के उपरान्त विद्यार्थी सब ओर अपने लिये द्वार खुले देखें। विद्यार्थियों को यह अनुभव न हो कि सरकारी नौकरी न मिले, तो उसके भाग फूट गए। प्रतिभा को शिक्षा के समतुल्य ही समझा जा सकता है। शिक्षा से प्रतिभा निखरती है। दोनों के सहयोग से विद्यार्थी दक्षता के साथ जीवन में आगे बढ़ पाता है।

वर्तमान परीक्षा-पद्धति कहीं-कहीं अवांछनीयता की सम्भावना लिए हुए है। एक-दूसरे की नकल करना और निरीक्षक द्वारा मुँह फेर लेना, अब सर्वविदित हो गया है। जो

इसके विरुद्ध खड़े होते हैं, उनके साथ अमानवीय व्यवहार की आशंका बनी रहती है। इन आंशकाओं के डर से कुछ तो पीछे हो जाते हैं, कुछ प्रलोभन में आ जाते हैं। एक के स्थान पर दूसरे का पर्चा लिख देना, पर्चा जाँचनेवालों का पता लगाकर तिकड़म भिड़ा लेना, नकली मार्कशीट प्राप्त कर लेना, ऐसे कई गोरखधंधे शिक्षा जगत में खुल गए हैं, जो किसी से छिपा नहीं है। इससे शिक्षा का स्तर गिरता जा रहा है और छात्रों में गुणवत्ता नहीं आ रही है। शिक्षा क्षेत्र में आई इन विकृतियों दूर करने और इन दुष्प्रवृत्तियों को मिटाने के लिए नए ढंग से सोचना होगा, नयी परम्परा और प्रणाली का अनुसन्धान करना होगा।

इस नयी प्रणाली के अन्वेषण में जब अग्रसर होते हैं, तो हमें इसका संकेत उन्हीं सभ्यताओं और संस्कृतियों में मिलता दिखाई पड़ता है, जिन्हें हम प्राचीन गुरुकुल-परम्परा के नाम से जानते हैं। शिक्षा और विद्या का समन्वित स्वरूप ही विद्यार्थी का मार्ग प्रशस्त करेगा।

सामान्यत: शिक्षा और विद्या को हम समान अर्थों में ले लेते हैं, लेकिन वास्तव में दोनों के अन्तर को समझना आवश्यक है। शिक्षा वह है, जो भौतिक आवश्यकता में सहायता करती है। यह भी कह सकते हैं कि जानकारी पाना ही शिक्षा है। विद्या का अर्थ है विद्यार्थी का अपने कर्तव्यों, उत्तरदायित्वों के बारे में, सद्गुणों के बारे में अवगत होना और अपने कर्म व स्वभाव को सही मार्ग में चलने के लिए प्रेरित होना। इस तरह हम कह सकते हैं कि प्रभावशाली जानकारी का नाम ही विद्या है।

शिक्षा वह है, जिसके द्वारा मनुष्य कठिनाइयों को दूर भगाने के योग्य बन पाता है। केवल लिखना-पढ़ना जान लेना ही शिक्षा नहीं है, यह तो केवल सरस्वती देवी के मन्दिर में प्रवेश करना ही मात्र हुआ।

ऐसी शिक्षा, जो चित्त की शुद्धि न करे, मन और इन्द्रियों को वश में करना न सिखाए, उपजीविका का साधन ना बताए, साहस और सामर्थ्य पैदा न करे, चाहे उसमें अथाह जानकारी का खजाना ही क्यों न भरा हो, तो वह शिक्षा किस काम की? ऐसी शिक्षा विद्यार्थियों को वैसा बना देती है, जैसे चारों वेदों से लदा हुआ गधा। इसका तात्पर्य यह है कि बड़ी-बड़ी डिग्रियों को धारण करनेवाला शिक्षित नहीं कहा जा सकता।

किन्तु विद्या क्या है? सा विद्या या विमुक्तये। विद्या मुक्ति के लिये होती है। वह मानव को मुक्ति के योग्य बनाती है। वह है विद्या। विद्या के साथ चलनेवाली शिक्षा से विद्यार्थी अपने अन्तरंग जीवन को भलीभाँति समझते हुए समाजहित, राष्टहित में अपनी भूमिका निभाने में अग्रणी रहेगा। यह शिक्षा और विद्या का समावेश तभी सम्भव हो पाएगा, जब आधुनिक विश्वविद्यालय में प्राचीन कालीन गुरु परम्पराओं को पुनर्जीवित किया जाएगा। विश्वविद्यालयों की शिक्षा में इस तरह के क्रान्ति की आवश्यकता है, जहाँ विद्यार्थियों की पढ़ाई से लेकर उनकी दिनचर्या, उनके विचार करने की शैली से लेकर बौद्धिक व्यवस्था, बौद्धिक ज्ञान के अभिवर्धन की सम्भावना रहे। अतएव शिक्षा के सर्वांगीण विकास के मूल तत्त्व को विकसित करना नितान्त आवश्यक है।

आधुनिक गुरुकुल के निर्माण में अभिभावकों, विश्वविद्यालय प्रशासनों को यदि थोड़ा खर्च उठाना भी पड़े, तो यह शायद प्राप्त होनेवाले परिणामों की तुलना में कम ही खर्च साबित होंगे। इस तरह विद्यार्थी से समाज, समाज से राष्ट्र का नवनिर्माण होता चला जाएगा।

विश्वविद्यालयों का वास्तविक कार्य विद्यार्थियों में ऐसी शिक्षा को संचालित करना है, जो विद्यार्थी की आजीविका में लाभकारी हो, साथ ही एक सशक्त व प्रबुद्ध नागरिक बनाने का पथ प्रशस्त करे। विश्वविद्यालय को अपने पाठ्यक्रम में ऐसे शास्त्रों, ग्रंथों – गीता, उपनिषद, रामायण, महाभारत, धर्म, संस्कृति, संस्कृत, दर्शन आदि विषयों का समावेश करना चाहिए, जिससे विद्यार्थी भौतिक सम्पदाओं की प्राप्ति के साथ-साथ व्यावहारिक और संस्कारवान नागरिक बनें।

विश्वविद्यालय के प्राध्यापकों, आचार्यों को गुरुकुल परम्परा के आचरण, पाठ्यक्रम, व्यवस्था से अवगत कराया जाए, गुरुकुल परम्परा के महान आचार्यों के व्यक्तित्व से परिचित कराया जाए, ताकि वे भी उन संस्कारों से स्वयं संस्कारित होकर विद्यार्थियों में वे संस्कार देने में सहायता कर सकें। विद्यार्थियों के सुसंस्कार और सफलता के मार्ग का निर्देशन कर उनका जीवन में सुखा और शान्ति का मार्ग प्रशस्त कर सकें। वह समय दूर नहीं जब प्राचीन ऋषि प्रणाली का पुन: उदय होगा और माँ भारती की आर्य-संतान ऋषि-पद्धति से जीवन को सच्चा जीवन बनानेवाले गुरुकुल की शिक्षा प्राप्त करेंगे। ○○○

भगवान की योजना से विवेकानन्द शिकागो में गये

स्वामी सत्यरूपानन्द

पूर्व सचिव, रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर

१८९३ में अमेरिकावासियों ने अमेरिका की खोज करनेवाले कोलम्बस की स्मृति में एक मेला लगाने को सोचा। कोलम्बस ने दो महीने से अधिक यात्रा कर अमेरिका को ढूँढ़ निकाला। वह मेला छः महीने वहाँ चला। मिशिगन एक बहुत बड़ी झील है। उस झील के किनारे उस समय संसार में जितनी भौतिक उन्नति, मशीनों की उन्नति, विभिन्न प्रकार के कला-कौशल की उन्नति – सबकी वहाँ एक बड़ी महाप्रदर्शनी लगाने को उनलोगों ने सोचा।

उस देश के विद्वानों और चिन्तकों ने सोचा कि जब संसार की सब प्रकार की भौतिक उन्नति की प्रदर्शनी लग रही है, तो क्यों न संसार में धार्मिक, आध्यात्मिक विचारों में जो उन्नति हुई, उन चिन्तकों के विचारों को भी यहाँ रखा जाये। जीवन में धर्म प्रधान है। संसार में धर्म के बिना मनुष्य रह नहीं सकता, तो उसकी भी व्यवस्था की जाये और उस महाप्रदर्शनी में धर्म के लिए भी एक स्थान रखा जाये। तब विश्वधर्म-सम्मेलन के आयोजन का विचार आया। विश्व के सभी धर्मावलम्बियों को बुलाया गया। उसके पीछे उनका उद्देश्य यह था कि विश्व के सभी धर्मावलम्बियों के सामने ईसाई धर्म ही सर्वश्रेष्ठ है, इसे सिद्ध कर दिया जाये। किन्तु भगवान तो अपनी योजना बनाते हैं। भगवान ने क्या योजना बनाई?

उस धर्म-महासभा में संसार के सभी बड़े-बड़े धर्मों के लोगों को बुलाया गया। जैन, बौद्ध, ईसाई, इस्लाम, भारत के ब्राह्मसमाज, कन्यफ्यूशस आदि बड़े-बड़े धर्मों के लोग थे। पर संसार में करोड़ों लोग जिस धर्म को मानते हैं, संसार का सबसे प्राचीन और सब धर्मों की जननी जो हिन्दू धर्म है, उसको न कोई निमंत्रण दिया गया और न कोई उसका प्रतिनिधि वहाँ गया। पर भगवान ने तो अपनी योजना बनायी थी।

तब स्वामी विवेकानन्द परिव्राजक सन्त के रूप में पैदल भारतवर्ष का भ्रमण कर रहे थे। तब रामकृष्ण मिशन नहीं था। स्वामी विवेकानन्द जी ऋषि थे। ऋषि उसको कहते हैं, जिसने भगवान का साक्षात्कार किया हो, जिसने आत्मा के दर्शन किये हों, मंत्रों को देखा हो – 'ऋषयः मन्त्रद्रष्टारः'। ऐसे ऋषि विवेकानन्द घूम रहे थे। उन्हें धर्मसम्मेलन की सूचना कहीं मिली। वे मद्रास गये। मद्रास के उनके मित्रों, शिष्यों और विद्वानों ने देखा, ये तो एक महाविद्वान ऐसे संन्यासी हैं, जिनको भगवान के दर्शन हुए हैं, इनको अमेरिका जाना चाहिए और अमेरिका की उस महासभा में हिन्दू-धर्म का प्रतिनिधित्व करना चाहिए। स्वामीजी तब २९ साल के थे। वे अपने मद्रासी युवक-मित्रों के कहने से अमेरिका गये। न उनके पास कोई परिचय पत्र, न उनके पास कोई चिट्ठी, न उनको कोई जाने, न रुपया-पैसा। किन्तु उनके शिष्यों और अनुयायियों ने चन्दा एकत्रित कर उन्हें उत्साहित कर अमेरिका भेज दिया।

स्वामी विवेकानन्द जून के अन्त में अमेरिका पहुँचे, तो उनको वहाँ पता लगा कि यहाँ जो धर्म सम्मेलन होनेवाला है, उसमें वही लोग भाग ले सकते हैं, जिनको निमंत्रण देकर बुलाया गया है। दूसरी बात, जो आये हैं, उनके पास संस्था के प्रतिनिधि होने का प्रमाण पत्र होना चाहिए। तीसरी बात, सभा में भाग लेने का दिनांक समाप्त हो गया। अब कोई प्रतिनिधि नहीं लिया जायेगा।

दूसरा कोई होता, तो दूसरे जहाज से वापस आ जाता कि अरे चलो भैया कहाँ की झंझट में फँसे थे। पर स्वामी विवेकानन्द तो ऋषि थे। महावीर के समान वीर थे। उन्होंने कहा, मैं पराजय स्वीकार नहीं करूँगा। भगवान की इच्छा से मैं यहाँ आया हूँ। धर्म महासभा वाला शिकागो शहर बहुत महँगा था, इसलिये वे सस्ते बोस्टन शहर चले गये। वहाँ उनका परिचय प्रसिद्ध विद्वान प्रोफेसर राइट से हुआ। स्वामीजी से बातचीत के दौरान उस प्रोफेसर को लगा कि ऐसा विद्वान तो मैंने अब तक नहीं देखा है। प्रोफेसर को बड़ा आश्चर्य हुआ। स्वामीजी ने अपनी इच्छा बतायी कि

मैं धर्मसभा में जाना चाहता हूँ, पर मेरे पास कोई पत्र नहीं है। उस विद्वान प्रोफेसर ने कहा – 'स्वामीजी, आपसे पत्र माँगना तो वैसा ही होगा, जैसे सूर्य से कोई पूछे कि तुम क्यों चमकते हो? आप जैसे ज्ञानी से प्रमाण पत्र माँगना मूर्खता है।'

स्वामीजी वहाँ गये। उन्हें वहाँ प्रवेश मिल गया। ११ सितम्बर, १८९३ को शिकागो के कोलम्बस हाल में छह-सात हजार श्रोता थे। जैसे ही स्वामीजी ने 'बहनो और भाइयो' कहा, तो श्रोता कई मिनट तक ताली बजाते रहे। स्वामी विवेकानन्द ने अपने हृदय से अनुभव किया कि सचमुच ये मेरी बहनें हैं और ये मेरे भाई हैं। यह शक्ति साधना से मिलती है।

स्वामीजी ने वहाँ सात मिनट तक व्याख्यान दिया। उन्होंने कहा कि मैं आपको संसार के सबसे पुराने संन्यासी सम्प्रदाय की ओर से धन्यवाद दे रहा हूँ। मैं संसार के सभी धर्मों की जननी हिन्दू धर्म की ओर से आपको धन्यवाद देता हूँ। हम हिन्दू लोग संसार के सभी धर्मों को केवल सह नहीं लेते, उनको स्वीकार भी करते हैं। संसार के सभी धर्म ईश्वरप्राप्ति के मार्ग हैं। १९ सितम्बर, १८९३ को स्वामी विवेकानन्द जी ने हिन्दू धर्म पर प्रबन्ध प्रस्तुत किया। स्वामी विवेकानन्द जी के व्याख्यान ने भारतवर्ष के गौरव को और हिन्दू धर्म को सदा के लिए विश्व में सर्वश्रेष्ठ कर दिया। भगवान ने यह योजना बनाई कि शिकागो धर्म महासभा के द्वारा संसार को हिन्दू धर्म की सर्वश्रेष्ठता से अवगत कराया जाये और स्वामी विवेकानन्द के द्वारा उन्होंने संसार में वेदान्त धर्म की पताका फहरायी। ○○○

पृष्ठ ३९८ का शेष भाग

बाकी थी। इसलिए घर वापस आने के बाद मैंने अपना बरामदा साफ किया और वहाँ पढ़ाने का निर्णय लिया। यह बात २००४ की है। मेरी पाठशाला उन ३ लड़कियों से आरम्भ हुई थी और आज हमारे पास प्रतिवर्ष ३५० विद्यार्थी आते हैं, जिनमें से अधिकांश आदिवासी युवतियाँ हैं। मेरी ही पाठशाला के बच्चों द्वारा आग्रह करने पर मैंने अपनी पाठशाला का शुल्क १ रुपये बढ़ा दिया है। और अब दो रुपया शुल्क लेता हूँ। मेरा दिन अभी भी सुबह ६ बजे गाँव में घूमने के साथ आरम्भ होता है और फिर मैं अपने घर के दरवाजे आनेवाले विद्यार्थियों के लिये खोल देता हूँ। कुछ लड़कियाँ २० कि.मी. से भी अधिक दूरी से पढ़ने के लिये आती हैं। मुझे हमेशा उन आदिवासी लड़कियों को देखकर लगता है कि मुझे उनसे बहुत कुछ सीखना है। इन वर्षों में, मेरे विद्यार्थी कई विभागों में प्रोफेसर और प्रमुख आईटी कम्पनियों में इंजीनियर बन गये हैं। वे हमेशा मुझे फोन करते हैं और मुझे अपनी सफलता की खुशखबरी देते हैं। हमेशा की तरह मैं उनसे कुछ चॉकेलट देने के लिए कहता हूँ।

''जिस दिन मुझे पद्मश्री पुरस्कार से सम्मानित किया गया, उस दिन मेरा फोन बजना बन्द ही नहीं हुआ। पूरे गाँव ने मेरे साथ खुशियाँ मनायी। यह सबके लिए प्रसन्नता का दिन था, लेकिन उस दिन भी मैंने अपने विद्यार्थियों को अपनी पाठशाला से छुट्टी नहीं करने दी। मेरी पाठशाला के द्वार सबके लिए खुले हैं – कभी भी, कोई भी मेरी पाठशाला में आ सकता है। हमारा गाँव बहुत ही सुन्दर है और मेरे सभी छात्रों का भविष्य उज्ज्वल है। मुझे पूरा विश्वास है कि हम सभी उनसे बहुत कुछ सीख सकते हैं।''

''तो यह मेरी कहानी है। मैं बंगाल का एक साधारण शिक्षक हूँ, जो अपनी चारपाई पर चाय और शाम की झपकी का आनन्द लेता हूँ। मेरे जीवन का मुख्य आकर्षण यह है कि मुझे मास्टर साहब कहा जाता है। ...मैं अपनी अन्तिम साँस तक पढ़ाना चाहता हूँ। यह वही काम है, जिसे करने के लिए मुझे इस संसार में भेजा गया है। संसार को अधिक करुणामय और सुन्दर बनाने के लिए आज ऐसे लोगों की बहुत आवश्यकता है। हमें आवश्यकता है, उन्हें पहचानने की और जब हम उन्हें खुले हृदय और खुले मन से ढूँढ़ने की कोशिश करेंगे, तो हम उन्हें अपने सामने ही पाएँगे।''

श्री सुजीत चट्टोपाध्याय 'दो रुपये वाला मास्टर' के नाम से प्रसिद्ध हैं और उनके पाठशाला को 'सदई फकीरेर पाठशाला' के नाम से जाना जाता है। तो बच्चो, इस कहानी से हम यह सीख मिलती है कि एक सच्चा गुरु शिष्य से कभी कुछ नहीं माँगता। वास्तव में गुरु केवल मानवता की सेवा करने के लिए होते हैं। वे लेने के लिए नहीं, बल्कि केवल देने के लिए होते हैं। ○○○

श्रीरामकृष्ण-गीता (२६)

(आठवाँ अध्याय ८/१)

स्वामी पूर्णानन्द, बेलूड़ मठ

संसारे साधनम्

श्रीरामकृष्ण उवाच

यथा न स भवेश्चौरमार्गण खेलने।

स्पृशेत् कर्हि सकृत कोऽपि वृद्धाख्यं क्रीडकं यदि।।१।।

– लुका-चोरी खेल में जैसे कोई बूढ़ी (खिलाड़ी) को छू ले, तो वह चोर नहीं होता है।

तथैव येन संस्पृष्टं भगवत्पादपंकजम्।

अत्रेह खलु संसारे न स बद्धो भवेत पुमान्।।२।।

– वैसे ही इस संसार में यदि कोई भगवान के चरणों का स्पर्श कर ले, तो वह संसार में बद्ध नही होता।

न कश्चिद् विषयः शक्यः पुरुषमीश्वराश्रितम्।

बन्धुं चराचरेऽस्मिन् तं चौरं वृद्धाश्रितं यथा।।३।।

– जिसने बूढ़ी को स्पर्श किया है, उसे चोर नहीं बनना पड़ता, वैसे ही संसार में जिसने ईश्वर का आश्रय लिया है, उसे अन्य कोई विषय आबद्ध नहीं कर सकता।

ग्राम्यक्षेत्रे कदा दृष्टं पल्वले जलनिर्गमे।

स्थाप्यते मीनकूटं तैर्ग्राम्यैर्मीनं दिधीर्षया।।४।।

– ग्राम्यांचल में (देखा जाता है कि) मछली पकड़ने के लिये छोटे तालाब में टाप लगाते हैं।

चकासितं वहन्नीरं चंचलं कलनादितम्।

दृष्ट्वा विशति तद्यन्त्रं सहर्षं सफरीकुलम्।।५।।

– टाप में से जल कल-कल करते हुए बहता रहता है, इसे देखकर छोटी-छोटी मछलियाँ आनन्द से उस टाप के भीतर चली जाती हैं।

अशक्या बहिरागन्तुं बद्धास्तत्र भवन्ति ते।

कालेन नितरां तत्र प्राणाञ्जहति चान्ति मे।।६।।

– वे उसमें से बाहर नहीं निकल सकतीं, वहीं पर फँस जाती हैं। अन्त में मर जाती हैं। **(क्रमशः)**

कविता

जयतु विवेकानन्द विश्वगुरु

डॉ. ओमप्रकाश वर्मा

जयतु विवेकानन्द विश्वगुरु, रत तुम सदा सत्य सन्धान ।
दुखितों के सब दुख हरने को, आये हो तुम पुरुष महान ।।
नित्य मुक्त तुम सदा पूज्य हो, योगिश्रेष्ठ तुम विवेकवान।
रामकृष्ण के परम शिष्य तुम, गुरु से पाये हो वरदान।।
विश्ववीर हे शुचिता स्वामी, करते तुम नित ज्ञान वितान।
करुणाविगलित हृदयवान तुम, धर्मतत्त्व के चिर आख्यान।।
तुम ही हो प्रभु मुक्तिप्रदाता, हरते हो सबका अज्ञान ।
शिवस्वरूप तुम शिवमतिदायक, दे दो मुझे कृपा का दान।।

कविता

कान्हा अब तो दरशन दे दो

ओ.पी. चौबे, भोपाल

इस युग में कब आओगे कृष्ण, मेरे मन की पीड़ा हरने ।
द्वापर युग के उन पलों की, यादों को फिर जीवित करने ।।
कितने बरस हो गए कन्हैया, याद तुम्हारी करते-करते।
अब तो आओ प्यारे मोहन, राह तुम्हारी देखा करते ।।
चुप होकर क्या सोच रहे हो, कान्हा अब तो दरशन दे दो ।
आओ मेरे पास तो आओ, फिर से हमें प्यारे ही बुलाओ।।
इतने बरस के बाद हे प्यारे! आए हो माधव मेरे द्वारे।
जैसे अंधेरे अंगना मोरे, नाच उठे हों चाँद-सितारे।।
आज चाँदनी चमक रही है, जैसे तुम्हारा रूप खिला हो।
तुममें ऐसी ज्योति है जैसे धरती पर ही चाँद खिला हो।।
आज भी केशव तुम हो मेरे, मैं भी तुम्हारा ही अपना हूँ ।
जल्द मुझे भव-पार लगा दो, मैं भव-सागर में डूबा हूँ ।।
ये तो तुमने जान-लिया है, जग पर विपदा कैसी गुजरी ।
तुम बिन गिरिधर जग की नैया डूब रही है उसे उबारो ।।
नटवर तेरी राह ताक कर घिर-घिर कारे बदरा आए,
सांवरे अब न देर करो तुम मैंने अपने नयन बिछाए।
सावन आया धूम मचाता, अब भी मेरे श्याम न आए ।।

शिक्षा के दो पक्ष – प्रतिभा-पोषण और चरित्र-निर्माण

स्वामी आत्मश्रद्धानन्द

सचिव, रामकृष्ण मिशन आश्रम, कानपुर

अनुवाद – उत्कर्ष चौबे, वाराणसी

शिक्षा या Education वास्तव में एक विचारणीय शब्द है! शिक्षित होना कितना बड़ा वरदान है। अच्छी शिक्षा प्राप्त करने का अवसर मिलना भी सौभाग्य की बात है। करोड़ों मनुष्य इस विशेषाधिकार से वंचित हैं। अशिक्षित या कम पढ़े-लिखे लोग, प्राय: राजनेताओं, अधिकारियों और व्यापारियों द्वारा अनुचित ढंग से धन और शक्ति अर्जित करने की इच्छा रखनेवाले लोगों द्वारा असंख्य दुखों को झेलते हैं। सम्मान और स्वतन्त्रता के साथ जीने के लिये शिक्षा एक बड़ी राहत और सशक्तिकरण के रूप में आती है। स्वामी विवेकानन्द ने कहा, ''शिक्षा, शिक्षा, केवल शिक्षा! यूरोप के कई नगरों में घूमकर और वहाँ गरीबों की सुख-सुविधायें और शिक्षा को देखकर मुझे अपने गरीब देशवासियों की याद आती थी और मैं आसूँ बहाता था। यह अन्तर क्यों हुआ? उत्तर मिला – शिक्षा से। शिक्षा से आत्मविश्वास आया और उनका ब्रह्मभाव जाग उठा।...'' (मेरा भारत अमर भारत, पृ.५३)

इसके साथ ही कई शिक्षित लोगों की दुखद वास्तविकता यह है कि वे दुखी रहते हैं अथवा भ्रष्टाचार और अपराध के लिए दोषी ठहराए जाते हैं या ऐसे काम करते हैं, जो उन्हें और दूसरों की हानि पहुँचाते हैं। यद्यपि वे शिक्षित हैं और उनके पास प्रतिष्ठित डिग्रियाँ और पद भी हैं, फिर भी वे अत्यन्त स्वार्थी और आत्म-केन्द्रित जीवन जीते हैं। इतना ही नहीं, उन्हें समाज, युवा पीढ़ी और राष्ट्र की हानि पहुँचाने में तनिक भी संकोच नहीं होता तथा वे शारीरिक या मानसिक दुख और उत्पीड़न का चक्र बनाकर तथा उसे यथावत् कर क्षति पहुँचाते हैं। इस सत्य को इंगित करते हुए स्वामी विवेकानन्द ने कहा था, 'अब हम पशुओं से अधिक नैतिक नहीं हैं। हम केवल समाज के चाबुकों से दबे हुए हैं। यदि आज समाज कहता है, 'यदि तुम चोरी करोगे, तो मैं तुम्हें दण्ड नहीं दूँगा।' तो हम बस एक-दूसरे की सम्पत्ति के पीछे भागेंगे। पुलिस ही हमें नैतिक बनाती है। यह सामाजिक परामर्श ही है, जो हमें नैतिक बनाता है और वास्तव में हम पशुओं से थोड़े ही बेहतर हैं।''

इससे आहत होकर हम स्वाभाविक रूप से पूछते हैं कि शिक्षित होने का क्या लाभ! उस शिक्षा की खोज में इतना समय, ऊर्जा और पैसा क्यों खर्च करें, जो अन्तत: ऐसे पुरुषों और महिलाओं का सृजन करती है ! क्या इस दलदल से निकलने का कोई मार्ग है? क्या शिक्षा को इन दो विरोधाभासी प्रतीत होनेवाले पक्षों के परिप्रेक्ष्य में रखा जा सकता है? नि:सन्देह इस पर गम्भीर विचार की आवश्यकता है।

तो, शिक्षा क्या है !

वस्तुत: हमें इस बात की परीक्षा करनी चाहिए कि वास्तव में सच्ची शिक्षा क्या है और शिक्षित होने का क्या तात्पर्य है? शिक्षा का सही लक्ष्य क्या होना चाहिए और उस तक कैसे पहुँचा जाए? मानव जीवन में शिक्षा की भूमिका और महत्त्व को समझना वास्तव में महत्त्वपूर्ण है।

शिक्षित होने से हमारा आशय साधारणत: विश्वविद्यालय की डिग्री प्राप्त करना है, चाहे वह स्नातक या स्नातकोत्तर या पीएच.डी. हो। यह व्यक्ति को कम से कम सैद्धान्तिक रूप से रोजगार के योग्य बनाता है। यह हमें एक सामाजिक पहचान और भूमिका भी देता है। हमलोग प्राय: किसी को उसके द्वारा अर्जित की गई डिग्री से परिचित कराते हैं और यदि उसने इसे किसी प्रतिष्ठित स्कूल या कॉलेज या विश्वविद्यालय से अर्जित किया है, तो हम उसका भी उल्लेख करते हैं। उदाहरण के लिए, हम किसी का परिचय यह कहते हुए करा सकते हैं कि वह आईआईटी से मैकेनिकल इंजीनियरिंग में स्नातकोत्तर है या प्रतिष्ठित विश्वविद्यालय से पीएच.डी. है। इससे उनकी डिग्री को कुछ प्रामाणिकता मिलती है।

किन्तु क्या हमारी शैक्षिक योग्यता या प्रमाणपत्र ईमानदारी से बताता है कि हमने कितना ज्ञान और उत्कृष्टता प्राप्त की होगी ! शायद ही कभी, यह तो सहज मुद्रित रंगीन कागज का एक टुकड़ा है। यह हमें इसे प्राप्त करने में हमारे द्वारा

किए गए प्रयासों और कुछ अन्य सम्बन्धित कारकों के बारे में कुछ जानकारी देने का प्रयास मात्र है। यह इस बात का पूरा परिचय नहीं देता कि हम क्या जानते हैं या हमने क्या दक्षता प्राप्त की है। न ही यह उन सभी बाधाओं, चुनौतियों और कठिनाइयों को उजागर करता है, जिन्हें हमने इसे प्राप्त करने के लिये पार किया होगा। न ही, वास्तव में, यह प्रतिबिंबत करता है कि क्या हम वास्तव में इसके योग्य हैं। क्या एक डिग्री अथवा प्रमाण पत्र हमें जीविकोपार्जन के साथ-साथ सही अर्थों में एक सार्थक और संतोषजनक, जीवन जीने के लिए जीवन-कौशल प्रदान करता है! एक सदी से भी अधिक समय पहले, स्वामी विवेकानन्द ने शिक्षा के बारे में इस कड़वी सच्चाई को उजागर किया था : 'जो शिक्षा सामान्य व्यक्ति को जीवन-संग्राम में समर्थ नहीं बनाती, जो मनुष्य के चरित्र-बल, परोपकार की भावना और सिंह के समान साहस नहीं ला सकती, क्या वह भी कोई शिक्षा है? सच्ची शिक्षा वही है, जो व्यक्ति को अपने पैरों पर खड़ा होने में सक्षम बनाती है।''

दूसरे शब्दों में, स्वामी विवेकानन्द शिक्षा को केवल प्रमाण पत्र प्राप्त करने की प्रक्रिया नहीं, बल्कि व्यापक अर्थ में देखते हैं। स्वामीजी ने शिक्षा को एक कौशल के रूप में माना, जो व्यक्ति को जीवन की चुनौतियों का सामना करने में सहायता करता है, एक मजबूत और शुद्ध चरित्र का निर्माण करने में सहायक होता है और एक निडर सिंह के साहस के साथ-साथ उदारता की भावना का विकास करता है। स्वामीजी ने पूर्णत: शिक्षित व्यक्ति का क्या अद्‌भुत चित्र अंकित किया है!

शिक्षा का एक समग्र परिप्रेक्ष्य

स्वामी विवेकानन्द की शिक्षा का दृष्टिकोण वास्तव में बहुत व्यापक और समावेशी है। उन्होंने एक पूर्ण विकसित व्यक्ति की सबसे समावेशी चित्र को इस प्रकार चित्रित किया है – 'हम उस व्यक्ति को देखना चाहते हैं, जो सर्वांगीण समन्वित रूप से विकसित हो। ...जो हृदय से महान, मस्तिष्क से महान, कर्म से महान हो।... हम उस व्यक्ति को चाहते हैं, जिसका हृदय संसार के कष्टों और दुखों को तीव्रता से अनुभव करता हो।... और हम वैसा व्यक्ति चाहते हैं, जो न केवल अनुभव कर सकता हो, वरन् उन वस्तुओं का अर्थ भी ढूँढ सकता हो, जो प्रकृति और बोध, दृष्टि की गहराई में विद्यमान है। हम चाहते हैं, वह व्यक्ति जो अनुभव और सच्चे कर्मों द्वारा उद्देश्य को प्राप्त करना चाहता है, वह वहाँ भी न रुके। मस्तिष्क (Head), हृदय (Heart) और हाथ (Hand) का ऐसा संयोजन हम चाहते हैं।'

सच्ची शिक्षा का अर्थ है – जब तीन 'H', सिर (Head), हृदय (Heart) और हाथ (Hand), सामंजस्यपूर्ण रूप से विकसित होते हैं और दूसरों की भलाई के लिए काम करने के लिए प्रशिक्षित होते हैं। व्यावहारिक जीवन में हम सदैव एकांगी और असन्तुलन का सामना करते हैं। हम ऐसे व्यक्तियों से मिलते हैं, जो अत्यधिक बौद्धिक हैं, लेकिन उनमें प्रभावकारी व्यावहारिक ज्ञान और कौशल का अभाव है। उनमें मस्तिष्क या बुद्धि तो अच्छी तरह से विकसित होती है, लेकिन उनका हाथ या व्यावहारिक कार्य और दक्षता की क्षमता अविकसित होती है। या फिर ऐसे लोग भी हैं, जो कुशल तो हैं, लेकिन उनमें मानवता के प्रति संवेदनशील हृदय और सहानुभुतिपूर्ण समझ का अभाव है। कुछ में, हृदय और हाथ अच्छी तरह से प्रशिक्षित होते हैं, लेकिन मस्तिष्क या बुद्धि अविकसित होती है। दूसरे शब्दों में, ऐसे उदाहरण देखना दुर्लभ है, जब मस्तिष्क-हृदय और हाथ; तीनों अच्छी तरह से विकसित हों।

उदाहरणस्वरूप, भ्रान्ति का शिकार न होने के लिए, हमें यह उल्लेख करना चाहिए कि यद्यपि बुद्धि-हृदय-व्यावहारिक दक्षता का सामंजस्य आवश्यक है, लेकिन हृदय का विकास मनुष्य-निर्माण के लिए मुख्य है। सभी महान संतों और विद्वानों की तरह, स्वामी विवेकानन्द ने शिक्षा की प्रक्रिया में भावना और सहानुभूति विकसित करने के स्थान को समझा। स्वामीजी के शब्दों में, ''भगवान को हृदय के माध्यम से देखा जाता है, बुद्धि के माध्यम से नहीं। बुद्धि केवल सड़क स्वच्छ करनेवाली, हमारे लिए मार्ग स्वच्छ करनेवाली, एक माध्यम कार्यकर्ता, पुलिसकर्मी है, लेकिन पुलिसकर्मी समाज के कामकाज के लिए कोई सकारात्मक आवश्यकता नहीं है। वह केवल अशान्ति को रोकने, गलत काम को रोकने के लिये है, बुद्धि के लिये यही सब आवश्यक कार्य है।... बुद्धि आवश्यक है, क्योंकि इसके बिना हम कच्ची गलतियों में पड़ जाते हैं और हर तरह की गलतियाँ करते हैं। बुद्धि इन्हें जाँचती है। लेकिन उससे आगे, उस पर कुछ भी बनाने की कोशिश मत करो। यह एक निष्क्रिय, गौण सहायता है, सच्ची सहायता की भावना है प्रेम। क्या आप दूसरों के लिए अनुभव करते हैं? यदि आप ऐसा करते हैं, तो आप एकत्व में बढ़ रहे हैं। यदि आप दूसरों के लिए अनुभव नहीं करते हैं, तो आप सबसे बड़े बौद्धिक दिग्गज

हो सकते हैं, लेकिन आप कुछ भी नहीं होंगे, आप केवल शुष्क बुद्धि हो और आप ऐसे ही रहोगे।'

यूनेस्को के शिक्षा के चार स्तम्भ हैं – पिछले सौ से अधिक वर्षों में, कई शिक्षकों और समूहों ने शिक्षा के विचार और इसे प्रदान करने की प्रणाली में सुधार और विस्तार करने का प्रयास किया है। किसी न किसी रूप में, हम पाते हैं कि वे स्वामी विवेकानन्द द्वारा प्रतिपादित शिक्षा के दृष्टिकोण से प्रभावित हुए हैं। उदाहरण के लिए, 'शिक्षा के चार स्तम्भ' का विचार लें। यह पहली बार विश्व संस्कृति और विकास आयोग द्वारा अपनी १९९५ की रिपोर्ट, हमारी रचनात्मक विविधता में प्रस्तावित किया गया था। आयोग की अध्यक्षता स्पेनिश वैज्ञानिक, विद्वान और राजनेता फेडरिको मेयर जरागोजा ने की थी और रिपोर्ट अन्तर्राष्ट्रीय विशेषज्ञों की एक टीम द्वारा लिखी गई थी। ये चार स्तम्भ हैं : १. जानना सीखना २. करना सीखना ३. मिलजुलकर रहना सीखना ४. बनना सीखना।

आयोग ने कहा कि तेजी से बदलती, तेजी से वैश्वीकृत जगत का सामना करने में सहयोग करने के लिए शिक्षा प्रणाली के लिए ये चार स्तम्भ आवश्यक हैं। हमारी वर्तमान शैक्षिक प्रणालियाँ अक्सर जानने के लिए सीखने पर जोर देती हैं। लेकिन अन्य तीन स्तम्भों की उपेक्षा करती हैं। परिणामस्वरूप, बहुत से लोग आज विश्व में सफल होने और अर्थ और सन्तुष्ट जीवन जीने के लिए आवश्यक कौशल के बिना ही विश्वविद्यालयों से स्नातक हो जाते हैं। शिक्षा के चार स्तम्भ अब सारे विश्व के स्कूलों में लागू किए जा रहे हैं।

२००६ में, यूनेस्को ने एजुकेशन फॉर ऑल द फोर पिलर्स ऑफ एजुकेशन नामक एक पुस्तक प्रकाशित की, जो बताती है कि कैसे चार स्तम्भों को शिक्षा प्रणालियों में एकीकृत किया जा सकता है। आइए, इसे बेहतर समझने के लिये इन स्तम्भों का विस्तृत विवेचन करें।

१. जानना सीखना : यह स्तम्भ ज्ञान के अधिग्रहण और जो अर्जित किया गया है, उसे समझने को सन्दर्भित करता है। यह वह नींव है, जिस पर अन्य सभी स्तम्भ निर्मित होते हैं। इसके बिना, व्यक्तियों के लिए आलोचनात्मक सोच में शामिल होना या विभिन्न मुद्दों पर अपनी राय विकसित करना कठिन होगा। 'जानना सीखना' का तात्पर्य ग्रहणशील मानसिकता और तथ्यों के विकास को सीखने और जानने की क्षमता से है।

२. करना सीखना : यह स्तम्भ कौशल और क्षमताओं को विकसित करने पर केन्द्रित है। मनुष्य के लिए यह आवश्यक है कि वह जो सीखा है, उसे व्यवहार में ला सके। श्रीरामकृष्ण कहते थे, तबले के संगीतमय स्वरों को बोलना तो आसान है, लेकिन उन स्वरों को तबले पर बजाने के लिए कठिन अभ्यास की आवश्यकता होती है ! कौशल, चाहे शारीरिक हो या बौद्धिक, हमें कुशलतापूर्वक और प्रभावी ढंग से काम करने की क्षमता प्रदान करते हैं।

३. बनना सीखना : यह स्तम्भ व्यक्ति को अपने मूल्यों, विश्वासों और पहचान पर विचार करने के लिए प्रोत्साहित करता है। इसका तात्पर्य यह है कि कोई किस प्रकार का मनुष्य बनना चाहता है। हमने बहुत सारा ज्ञान प्राप्त किया होगा और कई कौशलों को निखारा होगा, लेकिन अगर हमारे मूल्य और विश्वास केवल पैसे, प्रसिद्धि और स्थिति के आसपास केन्द्रित हैं, तो हमारे होने का आभास निम्न स्तर का होगा। यह एक बाज का शास्त्रीण प्रमाण होगा (जैसा कि श्रीरामकृष्ण ने वर्णन किया है) जो आकाश में ऊँची उड़ान भर सकता है, लेकिन उसकी दृष्टि नीचे एक मरे सड़े हुए मांस पर टिकी होती है। इसलिए हमारी स्थित हमारी नैतिकता, चरित्र और व्यवहार की गुणवत्ता को दर्शाती है।

४. एक साथ रहना सीखना : यह स्तम्भ समाज के भीतर सामाजिक एकता और सद्भाव को बढ़ावा देता है। यह दूसरों के प्रति सहिष्णुता, सम्मान और समझ के महत्त्व पर जोर देता है। केवल साथ मिलकर काम करके ही हम समान लक्ष्यों को प्राप्त करने की आशा कर सकते हैं। एक सुविकसित व्यक्तित्व के निर्माण में पारस्परिक कौशल का अत्यधिक महत्त्व है।

स्वामी विवेकानन्द ने सौ वर्षों से भी अधिक समय में शिक्षा के इन चार स्तम्भों की भविष्यवाणी की थी, जब उन्होंने कहा था, 'जो शिक्षा सामान्य व्यक्ति को जीवन-संग्राम में समर्थ नहीं बनाती, जो मनुष्य के चरित्र-बल, परोपकार की भावना और सिंह के समान साहस नहीं ला सकती, क्या वह भी कोई शिक्षा है?

'अन्तर्निहित पूर्णता को प्रकट करना' – स्वामी विवेकानन्द ने शिक्षा को कई प्रकार से परिभाषित किया। ये सभी परिभाषायें गहन ज्ञानवर्धक हैं और वर्तमान शिक्षा के विरोधाभासों को सुलझाने में हमारी सहायता करती हैं। आइए इनमें से कुछ को उनके अपने शब्दों में देखें : शिक्षा का अर्थ है, उस पूर्णता की अभिव्यक्ति, जो मनुष्य में पहले से विद्यमान है। जिस संयम के द्वारा इच्छाशक्ति का प्रवाह तथा

विकास वश में किया जाता है और फलदायी बनाया जाता है, उसे शिक्षा कहते हैं। शिक्षा का सार मन की एकाग्रता है, तथ्य एकत्र करना नहीं। जीवन-निर्माण, मनुष्य-निर्माण, चरित्र-निर्माण विचारों का समावेश। हम वह शिक्षा चाहते हैं, जिससे चरित्र का निर्माण हो, मन की शक्ति बढ़े, बुद्धि का विकास हो और जिससे मनुष्य स्वावलम्बी हो सके।

उपरोक्त पाँच विचारों में ज्ञान और बुद्धि का सागर छिपा है। १९९६ में प्रकाशित यू.एन.एस.सी.ओ. की पुस्तक लर्निंग : द ट्रेजर विदइन स्वामीजी के 'मनुष्य में पहले से विद्यमान पूर्णता को प्रकट करने' के विचार की एक उत्कृष्ट अभिव्यक्ति है। हममें से प्रत्येक व्यक्ति कुछ क्षमताओं और विशेषताओं से सम्पन्न है। एक शिक्षक केवल एक सूत्रधार होता है, जो आन्तरिक पूर्णता की अभिव्यक्ति में आनेवाली बाधाओं और बाधाओं को दूर करने में सहायता करता है। पूर्णता से तात्पर्य उस आन्तरिक प्रतिभा और क्षमताओं से है, जो एक बच्चे में हो सकती है। एक संस्कृत श्लोक है –

अमन्त्रं अक्षरं नास्ति नास्ति मूलं अनौषधम्।
अयोग्यः पुरुषो नास्ति योजकास्तत्र दुर्लभाः।।

– ऐसा कोई अक्षर या स्तोत्र नहीं है, जो पवित्र मंत्र न बन सके। ऐसी कोई जड़ (या पौधा) नहीं है, जो जीवनरक्षक औषधि न बन सके। ऐसा कोई भी व्यक्ति नहीं है, जिसे अयोग्य कहा जा सके। इन सबको जोड़नेवाला दुर्लभ है। अर्थात् हर वस्तु का अपना मूल्य होता है। आवश्यकता है एक सक्षम व्यक्ति की, जो अपने अधीन व्यक्तियों में से सर्वश्रेष्ठ निकाल सके।

स्वामीजी कहते हैं, ''सारा ज्ञान, चाहे व्यावहारिक हो या पारमार्थिक; मानव के मन में निहित है। बहुधा यह प्रकट न होकर ढँका रहता है और जब आवरण धीरे-धीरे हटता जाता है, तो हम कहते हैं, 'हमें ज्ञान हो रहा है' और ज्यों-ज्यों इस आविष्करण की क्रिया बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों हमारे ज्ञान की वृद्धि हो जाती है। जिस मनुष्य पर से यह आवरण उठता जा रहा है, वह अन्य व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक ज्ञानी है और जिस मनुष्य पर यह आवरण तह-पर-तह पड़ा हुआ है, वह अज्ञानी है। जिस मनुष्य पर से यह आवरण पूरी तरह से हट गया है, वह सर्वज्ञ है।''

इसके अतिरिक्त मन की एकाग्रता की शक्ति विकसित करना सब कुछ सीखने की नींव है। एक बिखरा हुआ और चंचल मन किसी भी ज्ञान को सीखने और संसाधित करने के लिए अयोग्य है। विवेकानन्द के अनुसार मन की एकाग्रता विकसित करना शिक्षा की कुंजी है। उन्होंने शिक्षा के एक अनिवार्य हिस्से के रूप में इच्छा शक्ति को विकसित करने और प्रशिक्षित करने की आवश्यकता पर भी जोर दिया। उन्होंने कहा, 'जिस संयम के द्वारा इच्छाशक्ति का प्रवाह तथा विकास वश में किया जाता है और फलदायी बनाया जाता है, उसे शिक्षा कहते हैं।' 'प्रशिक्षण' का अर्थ है विभिन्न अनुशासन और अभ्यास, जो इच्छा शक्ति को मजबूत करते हैं और उसे सही दिशा में प्रवाहित करते हैं। चाहे सुबह जल्दी उठना हो या व्यायाम करना हो या ठीक से पढ़ने की आदत विकसित करना हो, व्यक्ति को दृढ़ इच्छाशक्ति की आवश्यकता होती है। सारा विकास और सारी प्रगति, चाहे व्यक्तिगत हो या सामाजिक, इसी इच्छाशक्ति की अभिव्यक्ति है।

ज्ञान के दो प्रकार शिक्षा, जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है, आन्तरिक किसी वस्तु की अभिव्यक्ति की एक प्रक्रिया है। यूनेस्को की रिपोर्ट इसे 'आन्तरिक कोष' कहती है। लेकिन प्रश्न यह है कि यह आन्तरिक कोष क्या है? कोष का अर्थ है बहुमूल्य वस्तुओं का संग्रह। शिक्षा के सन्दर्भ में इन 'मूल्यवान वस्तुओं' का अर्थ विचारों, अवधारणाओं और कौशल से युक्त ज्ञान होना चाहिए, जो प्रगति, प्रसन्नता और शान्ति के स्रोत हैं।

प्राचीन वैदिक ग्रन्थ मुण्डकोपनिषद (१/१/४) के अनुसार विद्या दो प्रकार की होती है – परा और अपरा। अर्थात् निम्न ज्ञान और उच्चतम ज्ञान। निम्न ज्ञान और उच्चतम ज्ञान क्या है, इसे समझाने के लिए एक रोचक कहानी है। वैदिक काल के एक महान गृहस्थ, शौनक, एक प्रतिष्ठित विद्वान और ऋषि अंगीरस के पास पहुँचे, जिन्हें ब्रह्माण्ड के निर्माता ब्रह्मा से ज्ञान की परम्परा विरासत में मिली थी। शौनक ने उनसे पूछा, 'हे ऋषिवर ! वह क्या है जिसके ज्ञान से यह सब कुछ ज्ञात हो जाता है? अंगिरस ने उत्तर दिया – **द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद्ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापरा च।** – दो विद्यायें जानने योग्य हैं, परा और अपरा। अर्थात् ज्ञान दो प्रकार का होता है, निम्न और उच्चतम। निम्न ज्ञान संसार की विभिन्न वस्तुओं का ज्ञान है। यह वस्तुगत जगत से सम्बन्धित तथ्यों एवं विधियों का संग्रह है।

सर्वोच्च ज्ञान सभी जीवित प्राणियों और ब्रह्माण्डों में निहित दिव्यता का ज्ञान है। यह वह ज्ञान है, जो सारी सृष्टि

का आधार है। यह आन्तरिक स्व का ज्ञान है। एक अन्य कहानी में छान्दोग्य उपनिषद के सातवें अध्याय से, एक विद्वान ऋषि नारद, प्रबुद्ध ज्ञानी ऋषि सनत कुमार के पास जाते हैं और उन्हें बताते हैं कि यद्यपि उन्होंने कई विषयों का अध्ययन किया है, लेकिन उन्हें शान्ति नहीं है। पूछे जाने पर नारद ने व्याकरण, गणित, इतिहास, खगोल विज्ञान आदि जैसे कई विषयों का उल्लेख किया, लेकिन इससे उन्हें जीवन में सार्थकता और पूर्णता नहीं मिली। वस्तुगत जगत का ज्ञान कुछ बौद्धिक भूख को तो पूरा करता है, लेकिन आत्मिक भूख को संतुष्ट नहीं करता। हमें यह जानने के लिए अपने अस्तित्व में अतल गहराई में उतरने की आवश्यकता है। हम वास्तव में क्या हैं और हमें सच्ची स्थायी शान्ति और प्रसन्नता कौन-सी वस्तु देगी।

जीवन प्रतिभा और चरित्र का चित्रपट है

यह जीवन के महत्त्वपूर्ण और विचारात्मक सत्य की ओर ले जाता है। मानव व्यक्तित्व के दो व्यावहारिक पहलू हैं, जिनके चित्रपट को हम जीवन कहते हैं। ये दो पहलू हैं – 'प्रतिभा' और 'चरित्र'। प्रतिभा का साधारण अर्थ है, 'प्राकृतिक कौशल या क्षमता'। प्रतिभा या क्षमता अन्तर्निहित है और यह समझाना कठिन है कि यह कैसे और कहाँ से आती है। प्रतिभा का अनुवाद योग्यता स्वभाव या निपुणता के रूप में भी किया जा सकता है। हम प्रतिभा शब्द का प्रयोग किसी व्यक्ति के पास मानवीय क्षमताओं के किसी क्षेत्र में विद्यमान उपहार या योग्यता के रूप में करते हैं। जो व्यक्ति गायन में असाधारण रूप से अच्छा है, हम उसे एक प्रतिभाशाली गायक कहते हैं। जो अच्छा लिख रहा है, हम उसे प्रतिभाशाली लेखक कहते हैं। हमें कोई तात्कालिक कारण या वे कारक नहीं दिखते, जिनके कारण उनमें यह असाधारण क्षमता आ पायी हो। हम देखते हैं कि 'प्रतिभा' शब्द का प्रयोग मानव प्रयास के सभी क्षेत्रों में किया जा रहा है, चाहें वह संगीत हो या नृत्य, अभिनय या प्रशासन, ड्राइविंग, खाना बनाना, लिखना, मरम्मत करना, चिकित्सा या योग का अभ्यास करना और क्या नहीं, हमें हर क्षेत्र में प्रतिभा की आवश्यकता है। हमें जीवन के सभी क्षेत्रों में दक्षता और योग्यता की आवश्यकता है। कोई भी अयोग्य रसोइया, ड्राइवर, अकाउंटेंट या इन्जीनियर को नौकरी पर नहीं रखना चाहता। योग्यता, असाधारण योग्यता, वह है जिसकी हम सभी आशा करते हैं।

लेकिन क्या प्रतिभा ही वह सब कुछ है, जिसकी हम खोज करते हैं? निश्चित और सशक्त रूप से नहीं। हमें प्रतिभा से भी अधिक कुछ चाहिए और वह है चरित्र। आइए, इस उदाहरण को वास्तविक जीवन में देखें। एक व्यक्ति अपने छोटे बच्चे की देखभाल के लिए एक नर्स रखना चाहता था। बहुत खोजबीन के बाद उन्हें एक सुयोग्य नर्स मिली। उसके पास कई पेशेवर डिग्रियाँ और लम्बा अनुभव था। हाँलाकि, उसे काम पर रखने से पहले, उस व्यक्ति ने उसके ट्रेक रिकॉर्ड पूर्व स्थानों पर किये गये कार्यों की जाँच की और वह यह जानकर निराश और स्तब्ध था कि उसे उसके पिछले मालिकों द्वारा बच्चों के साथ दुर्व्यवहार और असभ्य व्यवहार के लिए निकाल दिया गया था। उस आदमी ने उसे काम पर न रखने का निर्णय लिया। अपने काम में योग्य होने के बावजूद उसका 'चरित्र' उसे संतुष्ट नहीं कर रहा था। किसी भी चीज से अधिक, वह अपने बच्चे की सुरक्षा चाहता था, केवल एक सक्षम नर्स नहीं। यहाँ निष्कर्ष यह है कि हम प्रतिभा की प्रशंसा करते हैं, लेकिन चरित्र का सम्मान करते हैं।

चरित्र का अर्थ है अच्छा चरित्र। जब हम कहते हैं कि अमुक चरित्रवान व्यक्ति है, तो 'अच्छा' शब्द मौन हो जाता है। चरित्र क्या है? 'स्वामी विवेकानन्द कहते हैं, 'यदि आप किसी भी व्यक्ति का चरित्र लें, तो यह वास्तव में उसकी प्रवृत्तियों का समुच्चय है, उसके मन की प्रवृत्ति का योग है, चरित्र दोहराई जानेवाली आदत है।' वे आगे कहते हैं – 'प्रत्येक व्यक्ति का चरित्र इन प्रभावों के योग से निर्धारित होता है। अच्छे संस्कार हों, तो चरित्र अच्छा बनता है; बुरा हो तो बुरा हो जाता है। यदि कोई मनुष्य लगातार बुरे शब्द सुनता है, बुरे विचार सोचता है, बुरे कार्य करता है, तो उसका मन बुरे संस्कारों से भरा होगा और ये संस्कार अनजाने में उसके विचार और कार्य को प्रभावित करेंगे। वास्तव में ये बुरे संस्कार हमेशा काम करते रहते हैं और उनका परिणाम बुरा होगा और वह आदमी बुरा आदमी होगा, वह इसमें कुछ नहीं कर सकता। इन संस्कारों का योग ही उसमें बुरे कर्म करने की प्रबल प्रेरक शक्ति उत्पन्न करेगा। वह अपने संस्कारों के हाथों में एक मशीन की तरह होगा और वे उसे बुरे काम करने के लिए विवश करेंगे। इसी प्रकार, यदि कोई मनुष्य अच्छा चिन्तन करता है और अच्छा कार्य करता है, तो इन संस्कारों का कुल योग अच्छा होगा और वे उसे अच्छा कार्य करने के लिए विवश करेंगे। ...जब ऐसा होता है, तब मनुष्य का अच्छा चरित्र स्थापित हो जाता है।'

'शिक्षा' सामान्यत: प्रतिभा के विकास और पोषण पर जोर देती है, चरित्र पर नहीं। चरित्र-निर्माण को गौण कर दिया गया है। पैसा कमाने और धनी, शक्तिशाली और प्रसिद्ध बनने के लिए ज्ञान प्राप्त करना और कौशल विकसित करना पहली प्राथमिकता है। इसके लिए लोग किसी भी सीमा तक कठिनाई झेलने और पैसे या व्यक्तिगत बलिदान के रूप में कोई भी कीमत चुकाने को तैयार हैं। अन्त में यह तर्क दिया जाता है, हम तीव्र प्रतिस्पर्धा, वित्तीय अनिश्चितताओं और सामाजिक असुरक्षा के जगत में रहते हैं। जीवन सांसारिक समस्याओं के सांसारिक समाधान ढूँढने में ही कैद हुआ लगता है। हालाँकि देर-सबेर हमें जीवन की वास्तविकताओं की अटल दीवार का पता चलता है। 'शिक्षित' होने के बावजूद मनुष्य को जीवन की जटिल गुत्थियाँ सुलझानी पड़ती हैं। जीवन और मृत्यु, प्रसन्नता और अवसाद, अच्छाई और बुराई जीवन के सभी विरोधाभासों का रहस्य तभी सुलझ सकता है, जब हम परिवर्तित वास्तविकताओं के पीछे एक गहरी वास्तविकता को खोजने का प्रयास करेंगे। हमें प्रतिभा, सफलता और धन से परे देखना होगा। उत्कृष्टता केवल धन और सुख-सुविधाओं की प्राप्ति तक ही सीमित नहीं होनी चाहिए। उत्कृष्टता के नैतिक एवं आध्यात्मिक पहलू भी होते हैं। आदमी बनाना, पैसा कमाना नहीं। हालाँकि, प्रतिभा कुछ करने, प्रदर्शन करने और बेहतर प्रदर्शन करने की क्षमता है, यह जीवन का केवल एक पक्ष है। हम प्रतिभावान लोगों की प्रशंसा करते हैं और यह सही भी है। हमें जीवन के हर क्षेत्र में प्रतिभाशाली लोगों की आवश्यकता है। हमें शिक्षा को पूर्ण बनाने के लिए करुणा और आन्तरिक शक्ति के मानवीय उपहारों को विकसित और पोषित करने की आवश्यकता है। स्वामी विवेकानन्द ने इसे 'मानव-निर्माण' कहा। उन्होंने कहा, 'सारी शिक्षा, सारे प्रशिक्षण का आदर्श यही मनुष्य-निर्माण होना चाहिए। लेकिन इसके अतिरिक्त हम हमेशा बाहरी वस्तुओं को चमकाने का प्रयास करते रहते हैं। जब भीतर कुछ है ही नहीं, तो बाहर चमकाने से क्या लाभ? सभी प्रशिक्षणों का अन्त और उद्देश्य मनुष्य को विकसित करना है।' बाहर चमकाना ! स्वच्छ भवन, स्वच्छ वस्त्र, अभिवादन और शिष्टाचार की सौम्य आदतें और एक प्रतिभाशाली नागरिक वातावरण बनाना मानव जीवन का बाहरी भाग है। शुद्ध हृदय, शुभ इच्छा, सच्ची विनम्रता, साहस और नि:स्वार्थ प्रेम के मानवीय मूल्यों का परिष्कृत वातावरण बनाना मानव जीवन का आन्तरिक भाग है। प्राचीन हिन्दू परम्परा में, अभ्युदय और नि:श्रेयस को जीवन के दो पहलुओं के रूप में वर्णित किया गया है। जीवन की बड़ी योजना में दोनों का स्थान है।

अभ्युदय का अर्थ है भौतिक कल्याण और प्रगति। नि:श्रेयस का अर्थ है आध्यात्मिक कल्याण और प्रगति। भौतिकवाद और आध्यात्मिकता में भेद के सम्बन्ध में स्वामी विवेकानन्द का एक अन्तर्दृष्टिपूर्ण कथन है। वे कहते हैं, 'क्या भौतिक है और क्या नहीं? जब संसार साध्य है और ईश्वर उस साध्य को प्राप्त करने का साधन है, तो वह भौतिक है। जब ईश्वर ही लक्ष्य है और संसार उस लक्ष्य को पाने का एकमात्र साधन है, तो आध्यात्मिकता प्रारम्भ हो गई है।' ज्ञान की सीमाओं को आगे बढ़ाना, प्रौद्योगिकी को बेहतर बनाना और हमारी जीवन-दशा में सुधार के साथ-साथ हमेशा मानवीय मूल्यों का पोषण होना चाहिए। उच्च मूल्यों के बिना जीवन क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं का एक निरर्थक बन्धन बन जाता है। कोई भी व्यक्ति मूल्यहीन, आदर्शहीन नहीं है। अन्तर इस बात में है कि हम किसे महत्त्व देते हैं – किसी प्रकार से अर्थार्जन कर निम्न आदर्श को या सच्चाई से अर्थार्जन कर उच्च आदर्श को? क्या हम संवेदनहीन स्वार्थी इच्छाओं की खोज को महत्त्व देते हैं या आत्म-नियन्त्रण और नि:स्वार्थता की खोज को? क्या हम इन्द्रियों की स्वतन्त्रता को महत्त्व देते हैं या इन्द्रियों से स्वतन्त्रता को? हम वही हैं, जिसे हम महत्त्व देते हैं। हमारा अभिविन्यास, दिशा और प्राथमिकतायें मानव जीवन के केवल कुछ पहलुओं पर ही नहीं, बल्कि मानव जीवन के सम्पूर्ण विकास की ओर निर्देशित हो सकती हैं। यही शिक्षा का लक्ष्य होना चाहिए। निष्कर्ष के रूप में श्रीरामकृष्ण कहते थे, 'जब तक जिऊँ, तब तक सीखूँ।' वह व्यक्ति या वह समाज जिसके पास सीखने के लिए कुछ नहीं है, वह पहले से ही मृत्यु के मुँह में है। इसलिए हमें स्वयं को शिक्षित या पुन: शिक्षित करना चाहिए कि सच्ची शिक्षा क्या है! हमें जीवन और शिक्षा के बारे में एक नया दृष्टिकोण विकसित करने की आवश्यकता है और अन्तत: शिक्षा के आदर्श के सबसे समीप एक प्रणाली ढूँढ़नी होगी और शिक्षकों को विकसित करने और प्रशिक्षित करने के लिए एक इको-सिस्टम भी बनाना होगा। शिक्षा तभी अपनी पूर्णता पाती है जब वह जीवन को पूर्ण करती है। ○○○

तेन त्यक्तेन भुंजीथाः

अरुण चूड़ीवाल, कोलकाता

सामान्यत: १०८ उपनिषद माने गए हैं। इनमें भी ११ उपनिषदों को विशेष महत्त्व दिया गया है। इन ११ उपनिषदों में भी 'ईशावास्योपनिषद' को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण माना जाता है। समस्त उपनिषद वेदों के ब्राह्मण अथवा आरण्यक भाग में है। वेद की मंत्र संहिता की समाप्ति के पश्चात् पूरक अंशों को ब्राह्मण अथवा आरण्यक कहा जाता है।

ईशावास्योपनिषद एकमात्र उपनिषद है, जो यजुर्वेद संहिता का चालीसवाँ अध्याय है। इसमें मात्र १८ मंत्र हैं। स्वामी अखण्डानन्द जी के अनुसार इसके प्रथम मंत्र में पुरुषार्थ चतुष्टय समाहित है –

ॐ ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुंजीथाः मा गृधः कस्यस्विद्धनम्।।

मंत्र का तृतीयांश है तेन त्यक्तेन भुंजीथा: अर्थात् यह संसार जो ईश्वर का है, उसका त्यागपूर्वक सेवन करो। इस अंश को काम पुरुषार्थ माना गया है। विष्णुकान्त जी शास्त्री के अनुसार काम-पुरुषार्थ की अवस्थिति हमारे मन में है और उस मन के द्वारा अपनी अभिलषित वस्तु, स्थिति का भोग करके सुख पाते हैं और उस सुख के अनुभव के लिए हम काम को इतना महत्त्व देते हैं।

समस्त सौन्दर्य की साधना काम-पुरुषार्थ के अन्तर्गत आती है। साहित्य, संगीत, नृत्य, नाटिका, चित्र, स्थापत्य, समस्त विद्यायें, कलायें, जो वस्तु को, व्यक्ति को, भावों को अधिक ललित बनाकर, सुन्दर बनाकर, हमारे मन को परितृप्त कर देती हैं, काम-पुरुषार्थ के अन्तर्गत आती हैं।

पुरुषार्थ का एक अर्थ है – श्रम करके प्राप्त करने योग्य। इसका अन्य अर्थ है पुरुष के द्वारा चाहने योग्य – **पुरुषैः अर्थ्यते इति पुरुषार्थः**।

उपनिषदों पर व्याख्या के लिए आदि शंकराचार्यजी की व्याख्या ही सर्वाधिक स्वीकृत है। आदि शंकराचार्यजी ने ही ब्रह्मसूत्र, उपनिषद् एवं गीता पर व्याख्या करने की अनिवार्यता को प्रस्थानत्रयी कहा था। शंकराचार्यजी के अद्वैत मतानुसार 'तेन त्यक्तेन भुंजीथाः' का अर्थ है नाम-रूपात्मक जगत का त्याग करके अपने आत्मस्वरूप का, ब्रह्मस्वरूप का पालन करना। अपने नाम-रूप-विशिष्ट व्यक्तित्व को वास्तविक मत मानो। त्याग-भावना से युक्त होकर सांसारिक पदार्थों का सेवन करो।

आचार्य शास्त्रीजी ने अपने प्रवचनों में इस मन्त्रांश का भक्तिमार्गी रामानुजाचार्य की व्याख्या का उल्लेख किया है –

तेन अर्थात् प्रभु के द्वारा

त्यक्तेन अर्थात् त्यागे हुए – दिए हुए को

भुंजीथा: अर्थात् भोग करो।

उस परमात्मा के द्वारा दिए हुए को प्रसाद रूप में स्वीकार करो। उन्होंने जो कुछ दिया है, हमारे लिए समुचित है। ''रामजी के उस दिए हुए को सादर सहर्ष स्वीकार करके उसको प्रसाद रूप में ग्रहण कर जीवन बिताइए।''

सनातन धर्म का अद्भुत वैशिष्ट्य है कि एक ही मंत्र की निराकार एवं साकार दोनों रूपों में व्याख्या हो सकती है। वेद-मन्त्र की भक्ति-भावनामय यह साकार ईश्वर की व्याख्या है। ○○○

कविता

जय जय विवेकानन्द

आनन्द तिवारी 'पौराणिक'

हे वैदिक धर्म-ध्वजा, हे अखण्ड आनन्द।
हे युगद्रष्टा, विश्ववन्द्य, जय जय विवेकानन्द।।
गुरु रामकृष्ण, माँ सारदा का पाकर पुण्य उपदेश।
संन्यास-व्रत लेकर जग को दिया आदर्श संदेश।।
वसुधैव कुटुम्बकम् सद्भाव से माना, जगत एक परिवार।
शान्ति, प्रेम, भाई–चारा इस मानवता का है सार।।
सेवा में सुख-शान्ति है, मन को मिलता परमानन्द।
हे युगद्रष्टा, विश्ववन्द्य, जय जय विवेकानन्द।।
घृणा न करने, प्रेम एकता का दिया उपदेश ।
मानव को शिक्षित करने का दिया परम संदेश ।।
अल्प आयु थी उनकी, पर था अभियान महान।
विश्वगुरु भारत की जग को दी नई पहचान।
ज्योति जलाई सत्य धर्म की, होगी लौ न उसकी मन्द।
हे युगद्रष्टा, विश्ववन्द्य, जय जय विवेकानन्द ।।

श्रीराम और श्रीरामकृष्ण

स्वामी निखिलात्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी निखिलात्मानन्द जी महाराज, प्रयागराज, नारायणपुर, जयपुर के सचिव थे। उन्होंने यह व्याख्यान श्रीरामकृष्ण आश्रम, अमरकंटक में दिया था, जिसे विवेक-ज्योति पत्रिका के पाठकों हेतु प्रकाशित किया जा रहा है।)

(गतांक से आगे)

उसी प्रकार श्रीरामकृष्ण देव इस युग में हमारे अन्दर के जितने दुर्गुण हैं, उनका नाश करने के लिए आते हैं। वे कहते हैं – देखो ! यह अहंकार जाने का नहीं, उसे भगवान का दास, भगवान का सेवक बना करके रखो। भगवान राम भी रावण, कुंभकर्ण का व्यक्ति के रूप में तो नाश करते ही हैं, पर नाश करने के लिए वे ईश्वरीय शक्ति की सहायता नहीं लेते। वे चाहते, तो इच्छा मात्र से भी रावण, कुंभकर्ण का नाश कर सकते थे, पर वे मानवीय शक्ति की सहायता लेते हैं। भगवान राम का जो अवतरण हुआ था, उस समय जितनी सद्‌गुणी वृतियाँ थीं, सद्‌गुणी शक्तियाँ थीं, सब बिखरी हुई थीं। उस समय भी बड़े-बड़े अच्छे धार्मिक व्यक्ति न रहे हों, ऐसी बात नहीं है। उस समय भी वशिष्ठ जैसे महान ज्ञानी थे, विश्वामित्र जैसे धनुर्धर थे, महाराज दशरथ जैसे चक्रवर्ती सम्राट थे, जनकजी जैसे महान ज्ञानी थे, परशुराम जैसे महान धनुर्धर थे, जिन्होंने २१ बार क्षत्रियों का नाश किया था। ऐसे महान व्यक्तियों की कमी नहीं थी। किन्तु वे जितने भी गुणी व्यक्ति थे, सब अलग-अलग थे। उनमें संगठन का अभाव था। हमारे अन्दर भी एक सद्‌गुण आता है, तो दूसरा सद्‌गुण विदा हो जाता है। सद्‌गुणों में संगठन का अभाव देखा जाता है। आप देखिए, हमारे अन्दर सत्य बोलने का सद्‌गुण है। हमेशा हमें सच बोलना चाहिये। लेकिन सच बोलनेवाला इतना कड़ुवा बोलता है कि लोग उससे दूर भागते हैं। जहाँ सत्य आता है, तो हमारे अन्दर से शील चला जाता है। जो बड़ा शीलवान होता है, वह सबको प्रसन्न करने का प्रयास करता है। उसके अन्दर सत्य का अभाव देखा जाता है। मधुर बोलनेवाला व्यक्ति लोगों को प्रसन्न करने के लिए झूठ का भी सहारा लेता है। हमारे अन्दर एक सद्‌गुण आता है, तो दूसरा विदा हो जाता है। पर दुर्गुणों में बड़ी मैत्री होती है। हमारे अन्दर एक दुर्गुण आयेगा, तो दूसरे दुर्गुणों को पकड़कर के ले आयेगा। समाज में भी हमलोग देखते हैं, जितने दुर्गुणी व्यक्ति हैं, उनमें आपस में कितना संगठन होता है? आप देखिए, हमारे ही देश में जितने आतंकवादी हैं, चाहे बंगलादेश का आतंकवादी हो या नेपाल का आतंकवादी हो, चाहे पाकिस्तान का आतंकवादी हो, सबमें कितना संगठन है। जितने सदगुणी व्यक्ति हैं, सब अलग-थलग हैं। दुर्गुणों मे बड़ा संगठन होता है और सद्‌गुणों में संगठन का अभाव होता है। भगवान राम के समय भी इतने बड़े-बड़े योद्धा थे, मुनि थे, ज्ञानी थे, पर उनमें संगठन नहीं था। विश्वामित्र और वशिष्ठ में इतना झगड़ा कि हमारे पुराण उनके झगड़ों से भरे हुए हैं। विश्वामित्रजी कभी अयोध्या नहीं जाते थे, जहाँ वशिष्ठजी पुरोहित थे। वशिष्ठजी भी कभी जनकपुर नहीं जाते थे, क्योंकि वहाँ के राजा से उनका झगड़ा था। महाराज दशरथ चक्रवर्ती सम्राट थे, पर उनको कोई चिन्ता नहीं थी कि उनकी सीमा के बाहर राक्षस आकर ऋषियों को मार डाल रहे हैं, यज्ञ-कुंडों का नाश कर दे रहे हैं। इधर महाराज दशरथ की दृष्टि नहीं थी। महाराज जनक परम ज्ञानी, अपने ज्ञान में ही प्रतिष्ठित थे ! उनकी राज्य की सीमा के बाहर राक्षस कितना उत्पात कर रहे हैं, महाराज जनक की इधर दृष्टि नहीं थी।

भगवान राम क्या करते हैं? इन समस्त सद्‌गुणी व्यक्तियों को मिलाते हैं। विश्वामित्र और वशिष्ठ को मिलाते हैं। सीताजी से विवाह करके वे महाराज दशरथ को जनक से मिलाते हैं। परशुराम के अहंकार का नाश करते हैं। श्रीराम सद्‌गुणी वृत्तियों को एक साथ जोड़ते हैं और उसके बाद ही मानों रावण के नाश की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है।

भगवान श्रीरामकृष्ण देव भी आते हैं। उस समय भारत में धार्मिक व्यक्तियों का अभाव था, ऐसी बात नहीं है। श्रीरामकृष्ण देव के समय ! कितने नये-नये सम्प्रदाय फैल रहे थे। उत्तर भारत में आर्य समाज कार्य कर रहा था। बंगाल में ब्रह्मसमाज उत्पन्न हो गया था। तथापि समाज में यथार्थ धर्म नहीं आ पा रहा था। ये आर्यसमाज और ब्रह्मसमाज; दोनों मानों सुधारवादी आंदोलन थे, परन्तु वे हिन्दू धर्म को समग्रता के साथ प्रस्तुत नहीं कर पा रहे थे। आर्यसमाज

और ब्रह्मसमाज ने हिन्दू धर्म के उन्हीं तत्त्वों को ग्रहण किया था, जिसकी अंग्रेज निन्दा नहीं करते थे। पर अंग्रेज जैसे अवतारवाद, पुनर्जन्मवाद को नहीं मानते थे, इसे न आर्यसमाज ने स्थान दिया था, न ब्रह्मसमाज ने स्थान दिया था। ये आर्यसमाज और ब्रह्मसमाज सगुण निराकार ब्रह्म के उपासक थे। इनमें भी अपूर्णता थी और जैसा मैंने बताया, उस समय भी हिन्दू धर्म के जितने मत थे, शैव, शाक्त, वैष्णव, वेदान्त; उसमें भी अपूर्णता थी। सब अपने-अपने मत को ही श्रेष्ठ मानते थे। जितने भी आचार्य थे, अपने ही मत को श्रेष्ठ सिद्ध करने का प्रयास करते थे। ऐसे समय में श्रीरामकृष्ण देव आते हैं।

श्रीरामकृष्ण आकर क्या करते हैं? वे ब्रह्मसमाज की सभा में भी जाते हैं। वे उनकी सभाओं में भाग लेकर वहाँ जो अपूर्णता है, उस अपूर्णता को दूर करते हैं। वे ब्रह्मसमाज की सभा में जाकर केशवचन्द्र सेन जैसे प्रख्यात ब्रह्मसमाजी से कहते हैं – अरे, तुमलोग भगवान के बारे में ऐसी सब बातें क्यों करते हो कि प्रभु ! तुमने ऐसा विश्वब्रह्माण्ड बनाया है, तुम इतने शक्तिशाली हो, तुम हम पर कृपा करो, तुम धन की वर्षा करो। अरे भगवान तो हमारे पिता के समान हैं। क्या बालक अपने पिता के बारे में ये सब कहता है कि मेरे पिता इतने बड़े धनवान हैं, मेरे पिता मुझे इतना प्यार करते हैं। बालक तो यही देखता है कि हाँ ! पिता का उसके प्रति कितना स्नेह है, उस पर कितना स्नेह न्योछावर करते हैं ! क्या बालक की दृष्टि पिता के धन, उसकी विद्या पर जाती है? तुम ईश्वर के ऐश्वर्य का इतना क्यों बखान करते हो? ब्रह्मसमाज के इन दोषों को श्रीरामकृष्ण दूर करते हैं। धीरे-धीरे ब्रह्मसमाज में भी दो भाग हो जाते हैं। केशवचन्द्र सेन नवविधान नाम से समाज बनाते हैं और दूसरे थे विजयकृष्ण गोस्वामी, ये अपने समाज का नाम देते हैं साधारण ब्रह्मसमाज। उनके ब्रह्मसमाज के दो दल हो जाते हैं और दोनों दलों में वैमनस्य ! पहले दोनों दल एक साथ थे, पर बाद में दोनों में झगड़ा हुआ, दोनों अलग-अलग हो गये, पर दोनों ही श्रीरामकृष्ण के पास आते हैं।

एक बार श्रीरामकृष्ण देव दक्षिणेश्वर में थे। इधर केशवचन्द्र सेन अपने अनुयायियों को लेकर पहुँचे। थोड़ी देर में विजयकृष्ण गोस्वामी भी अपने अनुयायियों को लेकर दक्षिणेश्वर पहुँच गये और एक-दूसरे को देखकर खिन्नता का अनुभव करने लगे। केशकचन्द्र सेन अलग बैठे हुए हैं, विजयकृष्ण अपने अनुयायियों को लेकर अलग बैठे हैं और दोनों खिन्न हो रहे हैं। श्रीरामकृष्ण बोले – देखो ! एक बार श्रीराम और शिव दोनों में झगड़ा हुआ, दोनों में युद्ध हुआ। श्रीराम के सैनिक जो वानर थे और शिव के जो दूत थे सब आपस में लड़ने लगे। बाद में राम और शिव में मैत्री होने में देर नहीं लगी। दोनों में मित्रता हो गयी, पर भगवान राम के जो सैनिक, बन्दर थे और शिव के भूत-प्रेत थे, उनकी लड़ाई चलती ही रही। श्रीरामकृष्ण देव कहते हैं, तुम्हारे अनुयायी भले ही आपस में लड़ते रहें, पर तुम दोनों में तो मित्रता होनी चाहिए। उसके बाद दोनों में परस्पर बात कराते हैं। केशवचन्द्र सेन, विजयकृष्ण गोस्वामी, दोनों के बीच में मित्रता कराते हैं। इस प्रकार श्रीरामकृष्ण ! समाज की जो अपूर्णता है, उसको दूर करते हैं। श्रीरामकृष्ण अन्य मतावलम्बियों की सभा में जाते हैं, जो उनमें त्रुटियाँ हैं, उसे दूर करते हैं। श्रीरामकृष्ण के पास भी उनके वेदान्त साधना के गुरु तोतापुरी आते हैं। तोतापुरी ने निर्विकल्प समाधि के द्वारा ब्रह्म की अनुभूति की थी। बीस वर्ष तक साधना करके तोतापुरी ने निर्विकिल्प समाधि प्राप्त की थी। वे नंगे ही रहा करते थे। श्रीरामकृष्ण गंगा के किनारे बैठे हुए थे। नाव से तोतापुरी आये। श्रीरामकृष्ण को देखते ही तोतापुरी जान गये, ये महान साधक हैं। वे श्रीरामकृष्ण से कहते हैं, अरे तू वेदान्त की साधना करेगा? श्रीरामकृष्ण ने कहा – अगर मेरी माँ कहेगी, तो करूँगा। तोतापुरी ने कहा – जा, अपनी माँ से पूछकर आ ! मैं एक स्थान में तीन दिनों से अधिक दिनों तक नहीं रहता। तोतापुरी को लगा, शायद यहीं पास में इसकी माँ रहती होगी। श्रीरामकृष्ण तुरन्त मन्दिर में गये। माँ काली से कहते हैं – माँ ! वह नंगा आया हुआ है। बंगला में नंगे को न्यांगटा कहते हैं ! मुझे वेदान्त-साधना करने को कह रहा है। माँ ! तुम्हारी क्या राय है? माँ काली कहती हैं – बेटा ! मैंने उसे तेरे लिए ही भेजा है। जा तू साधना कर ! श्रीरामकृष्ण आकर तोतापुरी से कहते हैं – हाँ! माँ ने आज्ञा दे दी है। जब तोतापुरी को लगता है कि अरे यह मंदिर की काली की प्रतिमा को माँ कहता है। उनके मन में बड़ा आश्चर्य होता है। अरे ! ये पत्थर की प्रतिमा को माँ कहता है ! तोतापुरी को कभी ईश्वर के साकार रूप में विश्वास नहीं था। तोतापुरी ने सोचा – भले अभी इसके अन्दर में कुसंस्कार है, धीरे-धीरे इसका कुसंस्कार दूर हो जायेगा। तोतापुरी श्रीरामकृष्ण को वेदान्त की साधना कराते

हैं। पहले ही दिन कहते हैं – अरे देखो, अपने मन को भ्रूमध्य में स्थापित करो। श्रीरामकृष्ण जैसे ही भ्रुमध्य में ध्यान करते हैं, माँ काली का रूप आ जाता है। कोशिश करके भी काली की प्रतिमा को दूर नहीं कर पाते हैं। तोतापुरी से कहते हैं, महाराज ! मेरे सामने माँ काली आ जाती हैं। तोतापुरी ने कहा – अरे, यहाँ काली नहीं हैं। यहाँ पर अपने मन को एकाग्र करो। जैसे ही श्रीरामकृष्ण ने स्वयं को एकाग्र किया, माँ काली का वराभय रूप उनके सामने आ जाता है। श्रीरामकृष्ण कहते हैं – ज्ञान की तलवार से मैंने माँ के टुकड़े-टुकड़े कर दिये। तुरन्त उनका मन सहस्रार में जाकर समाधि में डूब जाता है। तोतापुरी को लगता है, ये सामान्य समाधि है, थोड़ी देर में टूट जायेगी। पर देखते हैं, पूरा दिन बीत गया, रात बीत गयी, दूसरा दिन आया, दूसरी रात बीत गयी। बड़ा आश्चर्य होता है तोतापुरी को। देखते हैं तीसरा दिन आया, तीसरी रात बीत गयी। तोतापुरी को लगता है, क्या यह निर्विकल्प समाधि है? जिस अवस्था को प्राप्त करने में मुझे जीवन के चालीस साल लगाने पड़े, क्या उसने उस अवस्था को तीन दिन में प्राप्त कर लिया? बड़े आश्चर्यचकित होते हैं तोतापुरी और श्रीरामकृष्ण के सामने ॐकार मंत्र का जप करते हैं। जब ॐकार ध्वनि सुनते हैं श्रीरामकृष्ण, तो धीरे-धीरे उनका मन नीचे उतरता है। वे सामान्य अवस्था में आ जाते हैं ! तोतापुरी उन्हें गले लगाते हुए कहते हैं – बेटा ! तुमने तीन दिन में ही उस निर्विकल्प समाधि की उपलब्धि कर ली, जिसे प्राप्त करने के लिए मुझे जीवन के चालीस साल लगाने पड़े। तू सचमुच में महान है ! बड़े प्रसन्न हो जाते हैं तोतापुरी। पर देखते हैं, जैसे शाम हुई श्रीरामकृष्ण ताली बजाकर माँ काली का नाम लेने लगे। तोतापुरी कहते हैं – अरे रोटी क्यों ठोक रहा है? श्रीरामकृष्ण कहते हैं – महाराज ! मैं तो माँ का नाम ले रहा हूँ और आप कह रहे हैं कि रोटी ठोक रहा है? बोले – अरे, अभी भी तेरे अन्दर का कुसंस्कार गया नहीं? अभी भी माँ-माँ कहता है? तोतापुरी को ईश्वर के साकार रूप में विश्वास नहीं है, पर श्रीरामकृष्ण उनकी बात न मानकर सुबह-शाम माँ का नाम लेकर ताली बजाते हैं। तोतापुरी हँसते हुए कहते हैं – अभी भी तेरा रोटी ठोकना गया नहीं। श्रीरामकृष्ण एक दिन तोतापुरी को भी अनुभव करा देते हैं कि सचमुच में ईश्वर जैसे निर्गुण-निराकार हैं, वैसे सगुण-साकार भी हैं। तोतापुरी ब्रह्म को मानते थे, पर उसकी शक्ति को नहीं मानते थे। शक्ति को माया कहते थे, पर श्रीरामकृष्ण उन्हें अनुभव करा देते हैं।

एक दिन रात में तोतापुरी अपनी धुनी लगाकर के बैठे हुए थे। अचानक देखते हैं, पेट में जोरों का दर्द होने लगा। ऐसा दर्द कि शरीर से अपने मन को हटा नहीं पा रहे हैं। तोतापुरी कहते हैं कि अरे जिस मन को मैंने शरीर से चालीस साल से दूर करके रखा है, आज मेरा मन उसी शरीर पर जा रहा है। मैं शरीर का अन्त कर दूँगा। यह सोचकर तोतापुरी गंगा में डूबने जाते हैं, पर जैसे ही गंगा में उतरते हैं, तो देखते हैं गंगा में जल ही नहीं है। उनके घुटने से ऊपर जल ही नहीं मिलता है। जिस गंगा में आज भी कलकत्ते में बड़े-बड़े स्टीमर चलते हैं, जहाज चलते हैं, तोतापुरी को डूबने लायक जल नहीं मिलता। चलते-चलते तोतापुरी नदी के उस पार पहुँच गये। कहीं डूबने लायक जल नहीं मिला। तोतापुरी को बड़ा आश्चर्य होता है। शायद वहाँ उथला हो सकता है गंगा का जल। जरा दूसरे मार्ग से जाऊँ ! वे रास्ता बदल करके वापस लौटते हैं, पर देखते हैं कहीं भी डूबने लायक जल नहीं है। वे फिर से तट पर पहुँचे। इतने में क्या देखते हैं, सूर्योदय होनेवाला था। प्रकाश के सम्मुख माँ काली उनके सामने प्रगट हैं। तोतापुरी को लगता है, अरे, सचमुच में रामकृष्ण कहा करता था – जिस प्रकार ब्रह्म सत्य है, उसी प्रकार उसकी शक्ति भी सत्य है। मैं अभी तक शक्ति को माया समझता था, मिथ्या समझता था, किन्तु श्रीरामकृष्ण सत्य कहता था कि जब ब्रह्म को मानो, तो उसकी शक्ति को मानना पड़ेगा। तोतापुरी माँ काली को प्रणाम करते हैं। जब सबेरे श्रीरामकृष्ण प्रणाम करने के लिए तोतापुरी के पास आये, देख रहे हैं, तोतापुरी ताली बजाकर माँ का नाम ले रहे हैं। श्रीरामकृष्ण हँसते हुए कहते हैं – महाराज! आज आप कैसे रोटी ठोकने लगे? तोतापुरी सारी घटना कह सुनाते हैं। वे कहते हैं – रामकृष्ण ! देखो, मैं तुम्हारी माँ को मानता नहीं था, पर माँ ने आज मुझे बता दिया कि सचमुच में वे भी सत्य हैं। जैसे ब्रह्म सत्य है, वैसे उनकी माया भी सत्य है, माँ ने दिखा दिया। ऐसे श्रीरामकृष्ण हैं ! उनके जो गुरु आते हैं, उन गुरुओं में जो कमियाँ रहती हैं, उन्हें दूर करते हैं। श्रीरामकृष्ण जितनी सद्गुणी वृत्तियाँ

शेष भाग पृष्ठ ४२८ पर

गीतातत्त्व-चिन्तन

बारहवाँ अध्याय (१२/१३)

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्द जी महाराज रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के संस्थापक सचिव थे। उनका 'गीतातत्त्व-चिन्तन' भाग-१ और २, अध्याय १ से ६वें तक पुस्तकाकार प्रकाशित हो चुका है और लोकप्रिय है। ८वाँ अध्याय 'विवेक ज्योति' के सितम्बर, २०१६ से नवम्बर, २०१७ अंक तक प्रकाशित हुआ था। अब प्रस्तुत है १२वाँ अध्याय, जिसका सम्पादन ब्रह्मलीन स्वामी निखिलात्मानन्द जी ने किया है। – सं.)

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः।।२०।।

तु ये श्रद्दधाना: मत्परमा: (परन्तु जो श्रद्धावान और मेरे परायण) इदम् यथा उक्तम् (इस कहे) धर्म्यामृतम् पर्युपासते (धर्ममय अमृत का सेवन करते हैं) ते भक्ता: मे अतीव प्रिया: (वे भक्त मुझको अतिशय प्रिय हैं)।

''परन्तु जो श्रद्धावान और मेरे परायण इस कहे धर्ममय अमृत का सेवन करते हैं, वे भक्त मुझको अतिशय प्रिय हैं।''

अमृत उसे कहते हैं, जिससे अक्षय आनन्द की प्राप्ति होती है। धर्म में भी वैसा ही आनन्द मिलता होता, तो लोग अधर्म की ओर जाते ही क्यों? भगवान व्यास कहते हैं – मैं दोनों हाथ उठाकर घोषणा करता हूँ कि धर्म से ही अर्थ और काम मिलते हैं। अत: धर्म का ही सेवन करो, पर लोग मेरी बात नहीं सुनते, धर्म की ओर अग्रसर नहीं होते। तब फिर यहाँ गीता में भगवान कृष्ण ने कैसे कह दिया **धर्म्यामृत**। इस जन्म में धर्म का आचरण करो, तो उसके फलस्वरूप अमृत उस जीवन में प्राप्त होगा। धर्म का आचरण करते हुए मनुष्य को कई प्रकार की कठोरता अपनानी पड़ती है, स्वार्थ का त्याग करना पड़ता है, तपस्या जीवन में लानी होती है। एक बार कष्ट तो उठाना ही पड़ता है, पर उसका जो फल मिलता है, वह अमृत होता है। भगवान कहते हैं कि अब तक उन्होंने भक्ति के जो तैंतीस गुण या लक्षण गिनाए, वे धर्म भी हैं और अमृत भी। अर्थात् उन गुणों के अनुसार चलते हुए धर्म भी करते रहना चाहिए और अमृत भी चखना चाहिए। धर्म्यामृत कहने का यही तात्पर्य है। अभी हमको आनन्दामृत नहीं मिल रहा है, क्योंकि हमारी मति उन गुणों में पहुँचकर ठीक ढंग से स्थिर नहीं हुई है। जिस तरह की यह साधना बतलाई गई है, उसको व्यवहार में उतारने का जो ठीक-ठीक प्रयास करते हैं, उनके लिए वह साधना धर्म्यामृत हो जाती है। धर्म और अमृत दोनों एक साथ ही सध जाते हैं, यह भगवान का तात्पर्य है। अभी यह कठिन मालूम पड़ता है क्योंकि हम इस दिशा में आगे नहीं बढ़े हैं। उदाहरणार्थ – पित्त के रोगी को मिश्री चूसने के लिए दी जाए, तो उसे मिश्री में कोई मिठास नहीं मालूम पड़ती। उसे वह कड़वी लगती है, पर वैद्यजी सलाह देते हैं कि वह मिश्री चूसना जारी रखे। धीरे-धीरे उससे उसका पित्त घटेगा, तब मिश्री की मिठास उभरती जाएगी। अन्त में वही मिश्री उसे मीठी लगने लगेगी।

इसी प्रकार इस धर्म का अमृतत्व अभी छिपा हुआ है। भगवान कहते हैं कि जब भक्त उनके द्वारा बतायी पद्धति से धर्म को अपने जीवन में उतारने लगता है, उसकी उपासना करता है, तब वह उसे अमृत के समान मीठा और अक्षय आनन्द प्रदायक लगने लगता है। ऐसी कोई बात नहीं है कि भक्ति का फल मनुष्य को अगले ही जीवन में प्राप्त हो। जो यज्ञ, दान, तप करते हैं, उनका फल भले ही अगले जन्म में मिलता हो, पर भक्ति का फल तो इसी जन्म में मिल

जाता है। जिस समय हम भक्ति की साधना कर रहे होते हैं, उसी समय, साधना करते-करते ही फल मिलता है। भक्ति की साधना करते-करते दोनों ही मिल जाते हैं – धर्म भी और अमृत भी। इसीलिए धर्म्यामृत कहा है। धर्म का आचरण सौदागरी वृत्ति से नहीं करना चाहिए कि हम यह करेंगे, तो हमें यह मिलेगा। भगवान का कहना है कि मेरे ही परायण होकर मुझको ही सर्वश्रेष्ठ समझनेवाला, मैं ही जिसके लिए परम हूँ, ऐसा जो श्रद्धायुक्त भक्त है, उसके भजन से मैं अत्यन्त प्रसन्न होता हूँ। अर्जुन ! ये जितने भी गुण हैं, इन्हें तुम अपने जीवन में उतारो। ये भक्तों के लक्षण हैं। अपने प्रियतम भगवान को हर समय अपने सामने रखकर भक्त की साधना चलती है, यही भक्तियोग है।

भक्ति में ज्ञान का समावेश आवश्यक

गीता के बारहवें अध्याय में भगवान ने भक्तियोग की चर्चा की है और तेरहवें अध्याय में विवेक पर बहुत अधिक बल दिया है। इसका तात्पर्य यही है कि भक्ति यदि विवेक और ज्ञान के सहारे आगे बढ़ती है, तब तो वह साधक के लिए भगवान के साथ युक्त होने का कारण बन जाती है और यदि भक्ति में ज्ञान का समावेश न हो, तो वह मात्र भावुकता होती है। ऐसी भक्ति साधक को भगवान के साथ सतत युक्त नहीं बनाती। यह इसकी विवेचना है। गीता में स्थान-स्थान पर आप देखेंगे कि भगवान ने जहाँ कहीं भक्ति की बात की है, वहीं पर उन्होंने ज्ञान की भी चर्चा की है। इसका मतलब यह है कि भगवान का भजन तो हो, भगवान का साकार रूप तो हमारे सामने दीखे, परन्तु उस साकार रूप का जो आधार निराकार है, जो गुणों का आधार है, वह निर्गुण तत्त्व भी हमारे समक्ष झलकता रहे और एकदम आँखों से ओझल न हो जाए।

बारहवें अध्याय को पढ़ते समय कुछ लोग अर्जुन के प्रश्न और भगवान द्वारा दिए गए उसके उत्तर पर विचार करते हैं, तो एकदम यह धारणा बना लेते हैं कि भगवान निर्गुण-निराकार उपासना के उतने पक्षपोषक नहीं हैं। सगुण-साकार उपासना पर अधिक बल देते हैं। इस प्रकार का विचार गीता पढ़नेवाले के मन में सहज भाव से उठता है। इसका कारण भगवान का अर्जुन से यह कहना है कि निर्गुण-निराकार की उपासना का पथ अधिक क्लेशदायक है। उसमें अधिक कठिनाई आती है। क्योंकि मनुष्य का मन निराकार को पकड़ नहीं पाता। वह निर्गुण की कल्पना नहीं कर सकता। अत: उसके लिए सगुण-साकार के मार्ग से जाना अधिक श्रेयस्कर है। पर इसका कतई यह अर्थ नहीं है कि हम सगुण-साकार को ही पकड़ें और निर्गुण-निराकार को छोड़ ही दें। भगवान भी यह नहीं चाहते।

अर्जुन ने भगवान से पूछा था, 'आपको दो प्रकार से लोग भजते हैं। एक तो वे भक्त हैं, जो आपसे सतत युक्त होकर आपकी उपासना करते हैं और दूसरे वे हैं, जो अक्षर और अव्यक्त के रूप में निर्गुण और निराकार के रूप में आपकी उपासना करते हैं। इन दोनों में से श्रेष्ठ कौन है?' भगवान ने उत्तर दिया, 'अर्जुन! दोनों प्रकार के लोग मुझको ही पाते हैं, पर जो व्यक्ति हर समय अपना मन मुझमें लगाए रखता है, मेरा ही चिन्तन करता रहता है, उसको मैं युक्ततम मानता हूँ, श्रेष्ठ योगी मानता हूँ। इसके बाद उन्होंने यह भी कहा कि जो निर्गुण-निराकार की उपासना करता है, जो सब प्राणियों की हितसाधना में संलग्न है, ऐसा वह निर्गुण-निराकार की उपासना करनेवाला व्यक्ति भी मुझको ही पाता है।

निर्गुण-निराकार तत्त्व सगुण-साकार का आधार

परन्तु कठिनाई यह है कि निर्गुण-निराकार की उपासना उन लोगों के लिए बड़ी कष्टसाध्य हो जाती है, जो सतत देह का चिन्तन करते रहते हैं। ठीक ही बात है ! जो व्यक्ति सतत देह का चिन्तन करता हो, जिसके मन में हरदम शरीर-बोध बना हुआ हो, ऐसा व्यक्ति शरीर से ऊपर उठकर, आकार से ऊपर उठकर, रूप और नाम से ऊपर उठकर भगवान का चिन्तन तो नहीं कर सकता। हममें से अधिकांश लोग देह-बोध से युक्त ही हैं और उनके लिए निर्गुण-निराकार की उपासना कठिन है ही, पर इससे यह मान लेना कि भगवान निर्गुण-निराकार का विरोध करते हैं, बिलकुल गलत होगा। उनका कहना इतना ही है कि सगुण-साकार की उपासना करो। वह तुम्हारे मन के अधिक नजदीक है। वह तुम्हारे लिए अधिक सहज है। परन्तु सगुण-साकार के पीछे उसके आधार के रूप में जो निर्गुण-निराकार तत्त्व है, उसकी उपेक्षा भी मत करो। उसको भी हरदम साथ रखो। तुम्हारी आँखों से वह कभी ओझल न हो और निर्गुण-निराकार तत्त्व के आधार पर खड़े होकर ही तुम सगुण-साकार की उपासना करो। तुलसीदासजी द्वारा रचित रामचरितमानस नामक ग्रन्थ में यह भाव बड़े सुन्दर शब्दों में ध्वनित होता है। गोस्वामीजी ने इसमें कई

स्थानों पर सगुण-साकार-उपासना कही है। इससे सन्देह होता है कि क्या वे केवल सगुण-साकार-उपासनावादी थे? एक जगह उन्होंने कहा – **मुकुति निरादर भगति रिझाने**। ये भक्त ऐसे हैं कि मुक्ति का तो निरादर करते हैं और भक्ति के प्रति इनका आग्रह होता है। यह सुनकर तो ऐसा ही लगता है कि गोस्वामीजी भक्ति-पथ के ही साधक थे, ज्ञान-पथ के पथिक नहीं थे। इसीलिए कुछ लोगों ने मान लिया कि वे सगुण-साकारवादी थे। पर यदि किसी ने उन्हीं से उनका मत पूछा होता, तो शायद वे यह कहते, 'मैं दोनों ही प्रकार का वादी नहीं हूँ। वादी कहने से यह तात्पर्य होता है कि मैं एक पथ को स्वीकार करता हूँ तथा दूसरे को स्वीकार नहीं करता।' वाद कहने से मण्डन और खण्डन; ये दोनों प्रकार के बोध हमारे सामने आते हैं।

गोस्वामीजी सगुण साकारवादी भी नहीं थे और निर्गुण निराकार का खण्डन भी उन्होंने नहीं किया। वे दोनों ही पथों को मानते थे। दोनों को ही उन्होंने अलग-अलग स्थान दे रखा था। मान लीजिए आपके घर में एक ही साथ दो अतिथि आ जाएँ और दोनों ही समान रूप से सम्माननीय हों, तब क्या आप उनसे यह कहेंगे कि आपके घर में एक ही अतिथि-कक्ष है, अत: आप उनमें से एक को ही अपने घर में स्थान देंगे? आप ऐसा कभी नहीं कहेंगे। दोनों के ही रहने की जगह बनाएँगे। गोस्वामीजी ने दोनों को कौन-सी अलग-अलग जगह दे रखी थी? **हियँ निर्गुन नयनन्हि सगुन।** हृदय में निर्गुण को स्थान दिया था और नेत्रों में सगुण को। संक्षेप में उन्होंने बड़ी अद्भुत बात कह दी। हृदय में निर्गुण-निराकार तत्त्व का विचार करते हैं और नेत्रों से साकार-सगुण रूप का ही दर्शन करना चाहते हैं। यह यथार्थ भक्त की दृष्टि है। इसमें दोनों तत्त्वों का समन्वय है और इन दोनों से बढ़कर उन्होंने एक तीसरे तत्त्व को माना –

हियँ निर्गुन नयनन्हि सगुन रसना नाम सुनाम।
मनहुँ पुरट संपुट लसत तुलसी ललित ललाम।।

दोहावली ७

– वे कहते हैं कि जिह्वा पर जो रामनाम विराजता है, उसे मैं दोनों से बढ़कर मानता हूँ। उनके अनुसार ये दोनों, सगुण-साकार और निर्गुण-निराकार; किसी मंजूषा के दो ढक्कनों के समान हैं और इनके बीच रसना पर रखा हुआ रामनाम उस अमूल्य रत्न की भाँति सुरक्षित है, जो किसी पेटिका में रखा हुआ है।

सगुण-साकार उपासक भी और निर्गुण-निराकार उपासक भी भगवान के नाम से लाभ उठाता है। इसीलिए तुलसीदासजी ने यही बड़ी पते की बात कही, 'मैंने तो दोनों को ही स्थान दिया और दोनों के बीच में नाम को सुरक्षित रखता हूँ।' कुछ लोगों का ध्यान नेत्र बन्द करके ही लगता है और कुछ लोग नेत्रों के सामने अपने इष्टदेव को, उनकी छवि को देखकर ही ध्यान लगा पाते हैं। तुलसीदासजी इस सम्बन्ध में विलक्षण बात कहते हैं, 'जब मैं आँखें खोलकर अपने सामने देखूँ, तब भी अपने इष्टदेवता के दर्शन करूँ और जब अपनी आँखें बन्द करके ध्यान लगाऊँ, तब भी अपने हृदय में अपने इष्टदेव के ही दर्शन करूँ।'

इसे ही कहते हैं सगुण-साकार और निर्गुण-निराकार; दोनों रूपों का समन्वय। इसीलिए जब हम सगुण-साकार की उपासना करें, तो उसकी भित्ति निर्गुण-निराकार की उपासना के तत्त्व की होनी चाहिए। इसी तत्त्व को गोस्वामीजी ने बारम्बार हमारे समक्ष प्रस्तुत किया है।

निर्गुण-निराकार तत्त्व ही भक्तों के सम्मुख सगुण-साकार रूप से प्रगट

यही समन्वय तपस्यारत मनु की प्रार्थना में भी लक्षित होता है, जिस प्रार्थना से सन्तुष्ट-प्रसन्न होकर भगवान ने मनु को साक्षात् दर्शन दिए थे। वह प्रार्थना है –

अगुन अखंड अनंत अनादी।
जेहि चिंतहिं परमारथबादी।।
नेति नेति जेहि बेद निरूपा।
निजानंद निरुपाधि अनूपा।। १/१४३/४-५
ऐसेउ प्रभु सेवक बस अहई।
भगत हेतु लीलातनु गहई।।
जौं यह बचन सत्य श्रुति भाषा।
तौ हमार पूजिहि अभिलाषा।। १/१४३/७-८

शास्त्रों में हम पढ़ते हैं कि प्रभु, ब्रह्म, सत्य, भगवान कैसा है? वह अवाङ्मनसगोचर है। वे मन और वाणी से परे हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि संसार में जिन वस्तुओं को हम विचार की परिधि में लाते हैं, तो वह शब्द के सहारे ही सम्भव होता है। इसीलिए जहाँ पर विचार नहीं जाता, वहाँ पर शब्द भी नहीं पहुँचता – **यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।** – जहाँ से मन और वाणी उस तत्त्व को पाए

शेष भाग पृष्ठ ४२८ पर

साधुओं के पावन प्रसंग (६८)

स्वामी निखिलानन्द

स्वामी चेतनानन्द

(स्वामी चेतनानन्द जी महाराज से रामकृष्ण संघ के भक्त भलीभाँति परिचित हैं। वर्तमान में महाराज वेदान्त सोसायटी, सेंट लुइस के मिनिस्टर-इन-चार्ज हैं। उन्होंने श्रीरामकृष्ण, श्रीमाँ सारदा, स्वामी विवेकानन्द और वेदान्त पर अनेक पुस्तकें लिखी और अनुवाद की हैं। प्रस्तुत पुस्तक में रामकृष्ण संघ के महान त्यागी संन्यासियों के संस्मरण हैं, जिनके सम्पर्क में लेखक स्वयं आए थे। 'विवेक ज्योति' के पाठकों हेतु मूल बंगला से इसका हिन्दी अनुवाद धारावाहिक रूप से दिया जा रहा है। – सं.)

ड्यूक की मृत्यु के पश्चात् उनकी स्मृति में निखिलानन्दजी ने अगस्त, १९५२ में कोलकाता के Modern Review पत्रिका में लिखा था :

''फ्रांस के मार्शल और फ्रांस के कुलीन वर्ग के वंशज ड्यूक ऑफ रिशेल्यू का ७६ वर्ष की उम्र में ३० मई, १९५२ को यूरोप में निधन हुआ। एक युवा के रूप में जिन्होंने ड्यूक की अन्तिम उपाधि धारण की थी। वे स्वामी विवेकानन्द के बहुत बड़े प्रशंसक थे और उनके साथ स्वामीजी का घनिष्ठ सम्पर्क था। वे अपनी अन्तिम साँस तक स्वामीजी के प्रशंसक थे।

''१९३४ ई. में न्यूयार्क से पेरिस जाते समय जहाज में मैं ड्यूक से मिला। जैसे ही जहाज ने न्यूयार्क बन्दरगाह छोड़ा, रानी मैचबेली ने आकर मुझे बताया कि ड्यूक बहुत व्यग्रता से उनके साथ भेंट करना चाहते हैं। भोजन के उपरान्त यात्रीवर्ग के जहाज के छत पर हमलोग मिले। उन्होंने मुझे बताया कि वे स्वामी विवेकानन्द को जानते हैं।

''स्वामी विवेकानन्द और ड्यूक का प्रथम मिलन १९०० ई. में पेरिस में मिस्टर और मिसेज फ्रांसिस एच. लेगेट के आवास पर हुआ था। १९०० ई. में पेरिस में विराट प्रदर्शनी चल रही थी। मिस्टर लेगेट गणमान्य व्यक्तियों को अपने घर में आदर से आमन्त्रित करते तथा उनका बहुत स्वागत करते थे।

''स्वामीजी की स्मृति में ड्यूक ने बताया था, 'स्वामी विवेकानन्द बहुत सुन्दर पुरुष थे।' ड्यूक ने प्रथम सोचा, यूरोप में जैसे बहुत भारतीय योगी कलाबाजी दिखाने आते हैं, स्वामीजी भी उसी प्रकार के एक योगी होंगे। तदनन्तर उन्होंने स्वामीजी के व्यक्तित्व एवं वार्तालाप से मुग्ध होकर नियमित रूप से उनका कई सप्ताह तक सत्संग किया। एक दिन स्वामी विवेकानन्द ने ड्यूक से कहा, वे कल भारत वापस जा रहे हैं तथा उनसे यह जानना चाहा कि क्या वे संसार त्याग करके उनका शिष्यत्व स्वीकार करेंगे? ड्यूक ने प्रश्न किया कि इसके परिणामस्वरूप मुझे क्या मिलेगा? स्वामीजी ने कहा, ''मैं आपको मृत्यु से प्रेम करना सिखाऊँगा।'' ड्यूक ने सोचा कि स्वामीजी उनके साथ परिहास कर रहे हैं। ऐसा सोचकर उन्होंने हँसकर कहा, ''मृत्यु से प्रेम करने से क्या लाभ? मेरे पास यौवन है, स्वास्थ्य है तथा अर्थ है, मैं जीवन का उपभोग करना चाहता हूँ।'' स्वामीजी ने गम्भीर होकर कहा, ''यदि आप मेरे शिष्य होते हैं, तो मैं आपके मन को एक ऐसे स्तर पर ऊँचा उठा दूँगा कि जब मृत्यु आयेगी, तब आप भयभीत न होकर हँसते हुए उसका वरण कर सकेंगे।'' उसके अगले दिन स्वामीजी पेरिस छोड़कर चले गये तथा वे पुन: कभी नहीं मिले।

''ड्यूक ने मुझे बताया कि वे ३४ वर्ष तक स्वामीजी को पूरी तरह से भूल गये। हमारी (स्वामी निखिलानन्द और ड्यूक) भेंट के दो वर्ष पूर्व, उनके जीवन में अनेक तरह की विकट परिस्थितियाँ आयीं तथा उनके जीवन में आमूलचूल परिवर्तन हुआ। अकस्मात् एक दिन स्वामीजी ने जो बातें उनको बतायी थीं, उनके मन में आयी। तथा वे स्वामीजी के बारे में जानने के लिए बहुत उत्सुक हो गये कि वे कहाँ हैं तथा उनका क्या हुआ। उन्होंने स्वामीजी के बारे में पेरिस, लन्दन, न्यूयार्क में पता लगाया, पर कहीं भी स्वामीजी की सूचना उनको नहीं मिली। तदनन्तर उन्होंने यात्रियों के नाम के बीच मेरा नाम देखा, तो उनको लगा कि स्वामी विवेकानन्द के बारे में शायद मैं उनको कुछ बता पाऊँ। हमलोग ने बहुत आनन्द के साथ जहाज में दस दिन व्यतीत किया तथा रात्रि में भोजन के पश्चात् हमारे बीच प्रेरणादायक बातें होती थी। ड्यूक ने प्रेसिडेंट ऑफ सोरबोन का परिचय-पत्र दिया तथा कहा कि न्यूयार्क में हम अवश्य मिलेंगे।

''स्वामीजी ने ड्यूक से कहा था कि प्रेम कर्म, योग तथा ज्ञान से उच्च है। ड्यूक के मत में मनुष्य निष्क्रिय नहीं है किन्तु सक्रिय प्रतिनिधि है तथा इतिहास उन लोगों का है जिन्होंने निर्माण किया, न कि जिन्होंने विकास किया। मनुष्य का प्रयास अपने भीतर तथा अपने आस-पास परिवर्तन लाना है।

''१० जनवरी, १९५२ ई. में ड्यूक ऑफ रिशेल्यू अन्तिम बार रामकृष्ण-विवेकानन्द केन्द्र, न्यूयार्क में आये थे। वे श्रीरामकृष्ण के संगमर्मर की मूर्ति का उद्घाटन करने आये थे। इस मूर्ति को मालविना हॉफमैन ने बनाया था। वे अभी-अभी ही अस्पताल से आये थे। मेरे अनुरोध पर उन्होंने स्रोताओं के बीच कुछ समय के लिए व्याख्यान दिया। अन्य बातों के बीच उन्होंने कहा, ''मैं एक शब्द कहना चाहूँगा, जो यहाँ आते समय मेरे मन में आया था। जो आप सभी के लिए महत्त्वपूर्ण होगा, क्योंकि आप अमेरिकावासी हैं। इस देश के संविधान की विशेषता मनुष्य के शारीरिक स्वतन्त्रता की स्थापना, दृढ़ता तथा माँग पर स्थापित रही है, लेकिन केवल शारीरिक स्वतन्त्रता पर। नैतिक स्वतन्त्रता, आध्यात्मिक स्वतन्त्रता, जो महत्त्वपूर्ण है, यह एक दूसरे देश से आया था, पुरातन संस्कृति के देश से।' ''

स्वामी निखिलानन्द देश-विदेश के बहुत प्रसिद्ध व्यक्ति के सम्पर्क में आये थे। व्याख्यान के समय कभी-कभी वे उनलोगों की स्मृतियाँ बताया करते थे। १९६६ ई. में थाउजेंड आइलैंड पार्क में केनोपनिषद् की कक्षा में स्वामी निखिलानन्द जी ने कहा, ''भारत के स्वाधीन होने के बाद सर्वपल्ली राधाकृष्णन रूस के प्रथम भारतीय एमबेस्टर (दूत) हुए। उन्होंने स्वयं मुझसे कहा था, ''मैंने एक दिन रूस के प्रधानमन्त्री स्टालीन से कहा, 'आप धर्म के ऊपर विश्वास नहीं क्यों करते? चर्च को भी अस्वीकार करते है।' स्टालीन ने उत्तर में कहा, ''यदि मैं सेंट पॉल से मिलूँ, तो कल ही मैं चर्च जाऊँगा।' स्टालीन धर्म के नाम पर धोखाबाजी पसन्द नहीं करते थे।'' **(क्रमशः)**

पृष्ठ ४२३ का शेष भाग

थीं, उन्हें संगठित करते हैं। हिन्दू धर्म में जितने संगठन थे, सबमें संगठन का भाव लाते हैं। वे इस्लाम धर्म की साधना करते हैं, ईसाई धर्म की साधना करते हैं और यह प्रतिस्थापित करते हैं – जितने धर्म हैं, जितने मत हैं, सभी ईश्वर के पास जाने के अलग-अलग रास्ते हैं।

इस प्रकार श्रीराम ने अलग-थलग पड़ी हुईं, सद्गुणी वृतियों, जैसे विश्वामित्र, वशिष्ठ, परशुराम आदि को एकत्र कर उनके बीच ऐक्य स्थापित करते हैं और दुराचारी रावण के नाश की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है। श्रीरामकृष्ण देव भी तत्कालीन सद्गुणी वृत्तियों केशव सेन, विजयकृष्ण गोस्वामी तथा अन्य धर्मावलम्बियों में एकता और सौहर्द्र स्थापित करने का प्रयास करते हैं। ○○○ **(समाप्त)**

पृष्ठ ४२६ का शेष भाग

बिना ही लौट आते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि वह निर्गुण निराकार तत्त्व है। मन वहाँ तक पहुँच नहीं पाता। चूँकि विचार वहाँ तक नहीं जा पाता, इसलिए वाणी भी नहीं जा पाती। अत: दोनों मन और वाणी; यों ही लौट आते हैं।

मनु कहते हैं कि जिसको परमार्थवादी लोग, परमार्थ का चिन्तन करनेवाले, निर्गुण-निराकार की उपासना करनेवाले लोग नेति नेति कहकर पुकारते हैं, **निजानंद निरुपाधि अनूपा,** ऐसा जो तत्त्व है, वह भक्त के वश में है। भक्तों के लिए वह लीला करता है। भक्तों के लिये वह लीला-शरीर धारण किया करता है, यह मैं जानता हूँ। मेरी यह बात यदि शास्त्रसम्मत हो, तो मेरी इच्छा की पूर्ति कीजिए। यहाँ पर मनु अपने विचार को, अपनी इच्छा को बड़े सुन्दर शब्दों में व्यक्त कर देते हैं। मनु की इच्छा जो आगे की चौपाइयों में बताई गई, वह यह है कि भगवान के ही समान पुत्र उनके घर जन्म ले। कितनी विलक्षणता से, बुद्धिमानी से मनु अपनी बात भगवान के सामने व्यक्त करते हैं। एक ओर तो प्रभु से कहते हैं, 'मैं जानता हूँ, तुम निराकार तत्त्व हो। तुम सीमाबद्ध नहीं हो और दूसरी ओर यह चाहते हैं कि प्रभु सीमाबद्ध हो जाएँ। **(क्रमशः)**

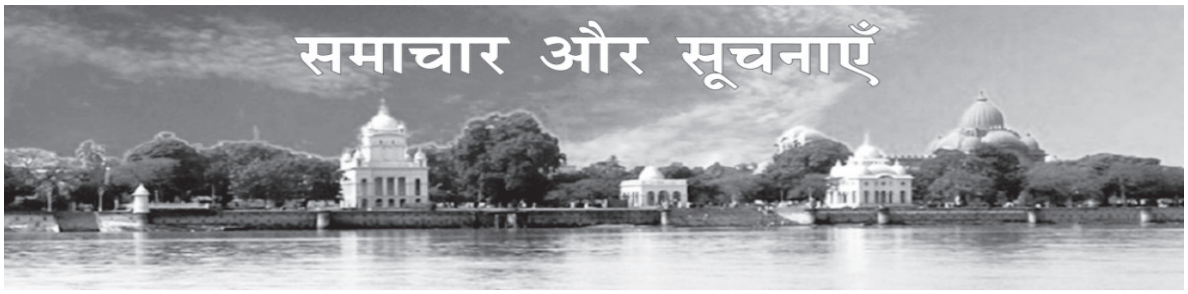

कश्मीर में श्रीरामकृष्ण देव की मूर्ति स्थापित हुई

रामकृष्ण मिशन, करन नगर, गुरु बाजार, श्रीनगर में संगमर्मर की श्रीरामकृष्ण की मूर्ति की स्थापना रामकृष्ण मठ और रामकृष्ण मिशन के परमाध्यक्ष परम पूज्यपाद श्रीमत् स्वामी गौतमानन्द जी महाराज के कर-कमलों द्वारा १० मई, २०२४ को पावन दिवस अक्षय तृतीया को की गयी। इस महोत्सव के उपलक्ष्य में श्रीनगर आश्रम द्वारा ९ मई से ११ मई, २०२४ तक त्रिदिवसीय कार्यक्रम का आयोजन किया गया, जिसमें बहुत से कार्यक्रम आयोजित हुये। ९ मई को रामकृष्ण संघ के सन्तों द्वारा वेद-मन्त्र का पाठ, मोनीदीपा घोष द्वारा भजन, रामकृष्ण मठ, भुज के अध्यक्ष स्वामी सुखानन्द जी द्वारा श्रीरामचरितमानस पर प्रवचन और रामकृष्ण मिशन कामारपुकुर के स्वामी कल्याणेशानन्द जी द्वारा भजन प्रस्तुत किये गये।

१० मई को शिवालय में वेद-पाठ हुआ। शोभायात्रा निकाली गयी। रामकृष्ण संघ के साधुओं द्वारा भजन और स्वामी सुखानन्द जी के श्रीरामचरितमानस पर प्रवचन हुये। अपराह्न में सार्वजनिक सभा आयोजित हुई, जिसमें रामकृष्ण मिशन, श्रीनगर के सचिव स्वामी विनिर्मुक्तानन्द जी ने सभी आगत अतिथियों सन्तों, भक्तों का स्वागत किया। तत्पश्चात् न्यायाधीश एन. कोटीश्वर सिंह, रामकृष्ण मठ-मिशन के सह-महासचिव स्वामी बोधसारानन्द जी, स्वामी निखिलेश्वरानन्द जी, स्वामी सर्वलोकानन्द जी के व्याख्यान हुये। पूज्यपाद स्वामी गौतमानन्द जी महाराज ने आशीर्वचन दिया। अन्त में स्वामी भद्रेशानन्द जी ने धन्यवाद ज्ञापन किया। सन्ध्य-आरती के बाद रामकृष्ण संघ के सन्तों द्वारा श्रीरामकृष्ण के दिव्यभाव पर सांगीतिक गायन किया गया। ११ मई को अतिथियों को क्षीर-भवानी मन्दिर, सारिका देवी मन्दिर, श्रीशंकराचार्य मन्दिर और डल-झील का परिदर्शन कराया गया। इस महोत्सव में लगभग ५० संन्यासी-ब्रह्मचारी और १०० भक्तों ने भाग लिया।

रामकृष्ण मठ, मुम्बई में शताब्दी समारोह

रामकृष्ण मठ, मुम्बई में आश्रम में एक वर्षव्यापी शताब्दी महोत्सव का समापन समारोह मनाया गया। इस उपलक्ष्य में २५ और २६ मई, २०२४ को द्विदिवसीय कार्यक्रम आयोजित किये गये, जिसमें विशेष पूजा, सार्वजनिक सभा और सांस्कृतिक कार्यक्रम का आयोजन किया गया। सार्वजनिक सभा को महाराष्ट्र के राज्यपाल श्री रमेश बैस जी और रामकृष्ण संघ के उपाध्यक्ष तथा रामकृष्ण मठ, काशीपुर उद्यानवाटी के अध्यक्ष श्रीमत् स्वामी दिव्यानन्द जी महाराज ने सम्बोधित किया। इस कार्यक्रम में लगभग १५० सन्तों और २६०० भक्तों ने भाग लिया।

भारत के प्रधानमन्त्री श्री नरेन्द्र मोदी ने २८ मई, २०२४ को **मायेर बाड़ी,** उद्बोधन, बागबाजार और **स्वामी विवेकानन्द जी की जन्मभूमि** का परिदर्शन किया।

१६ मई को गोवा के राज्यपाल श्री पी.एस. श्रीधरन् पिल्लई ने **रामकृष्ण मिशन, गोवा** का परिदर्शन किया।

१० मई, २०२४ **रामकृष्ण मिशन आश्रम, मनसाद्वीप** के हायर सेकेन्ड्री स्कूल के नये भवन का उद्घाटन रामकृष्ण संघ के उपाध्यक्ष तथा रामकृष्ण मठ, योगोद्यान के अध्यक्ष श्रीमत् स्वामी विमलात्मानन्द जी महाराज ने किया। इस कार्यक्रम में १००० भक्तों ने भाग लिया।